देखी सुनी

वर्ष 2009, अंक 11

है तकाज़ा वक्त का, अब हद से बढ़कर सोचना
एक कतरे की तलब हो, तो समन्दर सोचना .....

प्रिय साथियों !

इस बार के अंक में हम लेकर आए हैं महिला सशक्तिकरण व बजट में महिला भागीदारी से जुड़े कुछ प्रश्न, सरकारी नीतियों–भोजन का अधिकार, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना के कुछ पहलु, सम्मान के नाम पर की जाने वाली हिंसा के चुभते सच, दलित सफाई कर्मचारियों की स्थिति व महिलाओं पर थोपी सामाजिक मान्यताएं व हिंसा चक्र !

आशा करते हैं आपको हमारा प्रयास सराहनीय लगेगा और आपका सहयोग व मार्गदर्शन हमें अपने प्रयास को जारी रखने के लिए प्रेरित करता रहेगा।

जागोरी संदर्भ समूह

लड़ो तो लुबना हुसेन की तरह लड़ो

चर्चा में

राजकिशोर

कुछ लोग कहेंगे, औरतें पैंट पहने या न पहने, यह भी कोई मुद्दा है पर लुबना का कहना है कि पैंट तो मात्र प्रतीक है। मूल सवाल औरतों की स्वतंत्रता, स्वाभिमान और आत्मनिर्णय के अधिकार का है।हममे से कौन है जिसकी जबान पर यह नहीं आएगा, हां लुबना, इसमें क्या शक है! हम जहां भी हैं तुम्हारी लड़ाई के साथ हैं

सूडान की युवा पत्रकार लुबना अहमद अल हुसेन को इस अजनवी हिन्दुस्तानी का सलाम। लुबना ने यह साबित कर दिया है कि साधारण-सी बातों को लेकर किस तरह इतिहास रचा जाता है। बेशक हमारे देश में औरतों के लिए पैंट पहनना साधारण सी बात है, यद्यपि यहां भी कई प्रकार के समाज-विरोधी विचार तथा संगठन इसे एक असाधारण घटना बनाने पर तुले हुए हैं लेकिन सूडान में औरतों का पैंट पहनना अपराध है। वहां के नैतिक कोतवाल इसे महिलाओं के लिए 'अभद्र' पोशाक मानते हैं। इस अपराध के लिए उन्हें अधिकतम चालीस कोड़े लगाये जा सकते हैं और एक सौ सूडानी डॉलर की जमानत लेनी पड़ सकती है।

सूडान में ईसाई भी रहते हैं और मुसलमान भी। ईसाइयों पर यह कानून लागू नहीं होता पर मुस्तिम औरतों पर इस तरह के कई अभद्र कानूनों का शिकंजा है। 1989 में कट्टरपंथी उमर अल बशीर द्वारा तख्ता पलट के बाद मध्ययुगीन इस्लामी कानून लागू करने की रवायत शुरू हो गई थी। इसी के तहत 1991 में औरतो के लिए भद्रता के नियम बनाये गये। इन नियमों के तहत अब तक हजारों मुसलमान लड़कियों और औरतों को गिरफ्तार कर उन्हें कोड़े लगाये जा चुके हैं। हम सभी को सूडानी महिलाओं की बहादुरी का लोहा मानना चाहिए कि कोड़े खाने का खतरा उठाकर भी वे 'क्या पहनें, क्या न पहनें' के अपने मूल अधिकार से समझौता करने के लिए तैयार नही हैं।

चौतीस साल की लुबना हुसेन, जिनके पति का देहांत हो चुका है, इन्हीं साहसी औरतों में हैं। उन्हें पिछली तीन जुलाई को सूडान की राजधानी खारतूम में बारह दूसरी स्त्रियों के साथ गिरफ्तार किया गया था। इन सबका अपराध यह नहीं था कि वे एक रेस्त्रां में संगीत के कार्यक्रम का आनंद ले रही थीं। इस पर सूडान में कोई पाबंदी नहीं है। उनकी ढीठाई यह थी कि उस समय वे ट्राउजर पहने हुए थीं। उन सभी को गिरफ्तार कर स्थानीय थाने में ले जाया गया। कमी बस यह थी कि हथकड़ियां नहीं पहनाई गई थीं। थाने में ज्यादातर ने अपना अपराध मंजूर कर लिया। दल-दस कोड़े मार कर उन्हें घर भेज दिया गया। लुबना तथा कई और औरतें पैंट पहनने के अपने अधिकार पर अड़ी रहीं। सो उनका मामला अदालत के सुपुर्द कर दिया गया।

सूडान की पुलिस ने कोड़े मारने का भी अपना तरीका बनाया है। ये कोड़े सिर्फ मामूली चोट पहुंचाने के लिए नहीं मारे जाते, जैसे शैतान बच्चों को पहले बेंत से मारा जाता था। चेतावनी देने से अधिक कष्ट पहुंचाने का इरादा होता है। कोड़े बनाने के लिए प्लास्टिक की रस्सियों का इस्तेमाल होता है। जहां कोड़ा पड़ता है, वहां ऐसा जख्म बनता है जिसका दाग कभी नहीं मिटता। साफ है कि मामला न्यायिक कार्रवाई का नहीं, प्रतिहिंसा का है, जिसके पीछे मजा चखाने का भाव होता है। जींस की पैंट पहनी है, तो लो, यह भी भुगतो।

सजा से बचने के लिए लुबना हुसेन के पास एक कारगर कवच था। वे संयुक्त राष्ट्र के लिए काम कर रही थीं। सूडान के कानून में ऐसे व्यक्तियों पर संयुक्त राष्ट्र की इजाजत के बिना मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इसी बिना पर जज ने लुबना से कहा कि हम आप पर मुकदमा चलाना नहीं चाहते, आप चाहें तो जा सकती हैं। पर चट्टानी इरादों की इस सख्त औरत के लिए सवाल सिद्धांत का था, सुविधा का नहीं। उसने कहा कि मुझ पर मुकदमा चलाया जाए, ताकि मैं अदालत में अपना पक्ष रख सकूं, इसलिए मैं राष्ट्र संघ की नौकरी छोड़ रही हूं।

लुबना ने नौकरी छोड़ दी, तो मुकदमे की कार्रवाई फिर से शुरू हुई। समां यह था कि जिस दिन अदालत में विचार होना था, सैकड़ों महिलाएं अदालत के बाहर जमा हो गई और स्त्रियों के खिलाफ भेदभाव के खिलाफ नारे लगाने लगीं। इनमें से बहुतों ने पैंट पहन रखी थी। शोर-शराबा उपद्रव में न बदल जाए, इसलिए कार्रवाई स्थगित करनी पड़ी। अगली बार भी विरोध और प्रदर्शन के कारण कार्रवाई स्थगित करनी पड़ गई।

तमाम जिरह और बहस के बाद अदालत ने लुबना को अपराधकर्ता करार दिया और उन्हें 130 सूडानी डॉलर का जुर्माना भरने का हुक्म दिया। लुबना के लिए यह एक मामूली-सी रकम थी पर सवाल सिद्धांत का था। उन्होंने अदालत को ठेंगा दिखाते हुए कहा कि मैं एक दमड़ी भी नहीं दूंगी। जज में थोड़ी भी इनसानियत होती, तो वह जुर्माने की रकम अपने पास से भर देता और कैदी को आजाद कर देता। सजा देना उसके लिए कानूनी मजबूरी हो सकती थी, पर व्यक्तिगत कर्तव्य तो यही था कि वह एक इनसान की बुनियादी आजादियों का समर्थन करता लेकिन किसी फासिस्ट सत्ता द्वारा नियंत्रित समाज में जिसके पास जितनी ज्यादा ताकत होती है, वह उतना ही ज्यादा डरा हुआ होता है। जुर्माना न चुकाने के कारण लुबना को सात सितंबर को जेल भेज दिया गया। रात वहीं कटी। अगले दिन एक अफसर आया और उसने लुबना को रिहा कर दिया। लुबना ने अपने सभी दोस्तों और परिजनों को जुर्माने की रकम न भरने के लिए कहा था, पर सूडानी पत्रकारों की यूनियन ने पैसा जमा करा दिया था।

लुबना हुसेन को अपनी रिहाई की कोई खुशी नहीं है। उनका कहना है, सात सौ से ज्यादा औरतें अभी भी जेल में सड़ रही हैं, क्योंकि उनकी ओर से जुर्माना भरने के लिए कोई नहीं है। जाहिर है, यह लड़ाई लुबना हुसेन की सिर्फ अपनी नहीं है। एक पत्रकार के रूप में उनकी अच्छी-खासी साख है। वे जानती हैं कि अगर वे अपने लिए विशेषाधिकार और सुविधा के द्वीप बनाना ठीक न समझें, तो उनकी अपनी नियति उन अन्य स्त्रियों की नियति से भिन्न नहीं हो सकती जिनके बारे में और जिनके लिए वे लिखती हैं। उनके सरोकारों की इस व्यापकता के कारण ही जब उन पर मुकदमा चल रहा था, यह मुद्दा एक अंतरराष्ट्रीय मुद्दा बन गया। वेबसाइटें खुल गई और 'सूडानी महिलाओं के मानव अधिकारों की रक्षा करो' की मुहिम ने जोर पकड़ लिया। कुछ लोग कहेंगे, औरतें पैंट पहनें या न पहनें, यह भी कोई मुद्दा है? पर लुबना का कहना है, 'पैंट तो मात्र एक प्रतीक है। मूल सवाल औरतों की स्वतंत्रता, स्वाभिमान और आत्मनिर्णय के अधिकार का है।' हममें से कौन है, जिसकी जबान पर यह नहीं आएगा? हाँ, लुबना, इसमें क्या शक है ! हम जहां भी हैं, तुम्हारी लड़ाई के साथ हैं।

ऐ! मुहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया!

हरियाणवी भाइयों की फटाफटी अजीब है। यह तो स्वांतःसुखाय टाइप की फटाफटी है, जैसे सहवाग की बैटिंग। तभी तो पिछले महीने के आखिर में मटोर गांव का वेदपाल, सिंगवाल गांव में मजनूं की मौत मारा गया।

अगर जमाना ही फटाफट का है तो फटाफट ही सही। अपने हरियाणवी भाई किस से पीछे रहने वाले हैं। सो इश्क-विश्क के चक्कर में पड़ने वाले लड़के-लड़कियों को फटाफट मार रहे हैं। फटाफट भी सिर्फ एक तरह से नहीं कई-कई तरह से। फटाफट, माने बिना रुके, बिना सांस लिए, एक के बाद एक। और फटाफट माने यह भी कि न दलील न अपील, बस सिर में कील। लेकिन, इस फटाफट से कोई यह न समझे कि फटाफट क्रिकेट की तरह, कुछ टैम की ही छूट है और उसमें स्कोर ज्यादा से ज्यादा बढ़ा लेने की फटाफटी है। हरियाणवी भाइयों की फटाफटी ऐसी किसी मजबूरी की मोहताज नहीं है। जो छूट है, उसके हाथ से छूट जाने का दूर-दूर तक कोई डर नहीं है। यह तो स्वांतःसुखाय टाइप की फटाफटी है, जैसे सहवाग की बैटिंग, अधीरता ही इसका मूल मंत्र है। तभी तो पिछले महीने के आखिर में मटोर गांव का वेदपाल, सिंगवाल गांव में मजनूं की मौत मारा गया। इसके पंद्रह दिन के अंदर-अंदर रोहतक के वलंबा गांव में एक युवा जोड़े को लड़की के घरवालों ने पीट-पीटकर मार दिया। वह घटना 6 अगस्त की थी। उसके तीन रोज बाद ही हिसार जिले के सुबाना गांव के बाहर एक पेड़ से संदीप सिंह और मोनिका की लाशें एक ही रस्सी के दो छोरों से लटकती पाई गईं। उन्होंने मोहब्बत कर ही बगावत नहीं की थी, घर से भागकर दुगनी बगावत की थी। बेशक, रवींदर-शिल्पा जैसे नसीब सबके नहीं होते हैं, जिन्हें ढ़राणा से परमानेंट गांव निकाले पर ही छुट्टी मिल गई। मोहब्बत की सजा में भी ताकत और हैसियत के खेल? ऐ! मोहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया।

कुछ लोग तो कहने लगे हैं कि मोहब्बत के लिए मौत की सजा देना, हमारे देश में सबसे शौक से खेला ज़ाने वाला खेल है। सुनते हैं कि अपने यहां इश्क-विश्क में जान लेने वालों की ही नहीं, देने वालों की तादाद भी कुछ ज्यादा ही है। हिसाब रखने वालों ने तो गिनकर भी बता दिया है। बंदों ने गिनकर यह भी बता दिया है कि इश्क-विश्क में जान देने वालों की तादाद, आतंकवाद की वजह से जान गंवाने वालों से थोड़ी-बहुत ज्यादा नहीं, कई गुना ज्यादा है। एक गिनती सुनें। सन 2006 में देश भर में जो कुल 36 हजार लोग बेमौत मारे गए, उनमें से 2547 इश्क-विश्क के चक्कर में ही मारे गए थे, जबकि आतंकवाद के चक्कर में जान गंवाने वाले सिर्फ 894 निकले। आतंकवाद के हाथों मरने वालों की तादाद, इश्क के लिए मौत की सजा पाने वालों के मुकाबले करीब तिहाई ही थी। और यह सिर्फ एक 2006 के साल का किस्सा नहीं है। यह तो हर साल की कहानी है। जिस आतंकवाद के खतरे का इतना ढोल पीटा जाता है, उससे कई गुना ज्यादा जानों की भेंट तो इश्क ही चढ़वा रहा है।

कुछ और गिनतियां मुलाहिजा फर्माएं। 2007 में कुल 32 हजार 3 सौ से ऊपर ने बेमौत जान गंवाई। इनमें से 2324 ने इश्क-मोहब्बत के चक्कर में जान गंवाई, जबकि आतंकवाद की भेंट चढ़ने वाले सिर्फ 663 रहे। यानी पिछले साल तिहाई थे, तो इस साल चौथाई से जरा से ही ऊपर रह गए। मोहब्बत में जान गंवाने वालों की कुल संख्या में 223 की जो कमी नजर आती है, उस पर न जाएं। बेमौत मरने वालों में मोहब्बत में मरने वालों का हिस्सा कम होने की जगह बढ़ और गया है। लेकिन, कमाल की बात यह है कि इश्क-विश्क में जान देने में आंध्र वाले पट्ठे सबसे आगे निकल गए। उनका स्कोर 405 का रहा यानी मोहब्बत के शहीदों में हर छठा बंदा आंध्र प्रदेश का ही था। 279 रन पर यूपी वाले और 233 पर एमपी वाले, काफी पीछे दूसरे-तीसरे नंबर पर ही रह गए। इन तीनों की 917 की गिनती के सामने तमिलनाडु, बिहार, महाराष्ट्र गुजरात, पंजाब, दिल्ली और हरियाणा, सब मिलकर भी 913 पर ही सिमट गए। यानी अभी भी इश्क-मोहब्बत में जान लेने-देने में हरियाणा, इसी देश के दूसरे कई राज्यों से बहुत पीछे है। बहरहाल, वेदपाल के किस्से के बाद से मची फटाफटी इसका सबूत है कि हरियाणा इस मामले में तेजी से कैच-अप कर रहा है।

बहरहाल, जो आंध्र प्रदेश इश्क-मोहब्बत के लिए जान लेने-देने में टॉप पर रहा, उसी आंध्र में आतंकवाद ने 37 जानों पर ही ब्रेक कर दी, यानी इश्क में जान देने वालों के 11वें हिस्से के बराबर। बाकी आतंकवादी आतंक से जान लेने-देने में जम्मू-कश्मीर टॉप पर रहा, जिसका स्कोर था 186। दूसरे नंबर पर 152 के स्कोर पर मणिपुर रहा और तीसरे पर, 145 के स्कोर पर झारखंड। 40 के स्कोर पर असम बहुत पीछे चौथे नंबर पर। यानी अपना देश दो हिस्सों बंटा हुआ है: आतंकवादी आतंक से ग्रस्त इलाके और मोहब्बतविरोधी आतंक से त्रस्त इलाके। दोनों आतंकों का अलग-अलग इलाकों में ज्यादा जोर है। फिर भी साफ है कि मोहब्बतविरोधी आतंक की चुनौती ज्यादा बड़ी है। यह चुनौती ज्यादा नर-नारीबलियां ले रही है और ज्यादा बड़े इलाके में ऐसी बलियां ले रही है। फिर भी हमारी सरकारें छोटे वाले आतंक से तो लड़ने को तैयार हैं, लेकिन इस बड़के से आतंक से लड़ने की कौन कहे, उसे तो ठीक से पहचानती तक नहीं है। पर सोचने की बात है कि अगर आतंकवाद में जान लेने वाले को आतंकवादी कहते हैं, तो मोहब्बत करने पर जान लेने वालों को क्या कहेंगे! खैर, नाम कुछ भी रख लीजिए, इस नरभक्षी संस्कृति का मुकाबला तो कीजिए।

» राजेंद्र शर्मा

लेखक व्यंग्यकार हैं।

केंद्र का राज्यों को निर्देश

मान-सम्मान के लिए की जा रही महिलाओं की हत्याओं को रोकें

नई दिल्ली, 19 सितंबर (भाषा)। देश के कई भागों में महिलाओं पर हो रही हिंसा से चिंतित केंद्र ने राज्यों को महिलाओं की सुरक्षा के लिए कानून के कड़े नियमन के निर्देश दिए हैं।

राज्य सरकारों को दी सलाह में केंद्रीय गृह मंत्रालय ने सरकारों से कहा है कि वे उत्तरी राज्यों में पारिवारिक मान-सम्मान के लिए की जाने वाली हत्याओं को रोकने के लिए विशेष कदम उठाएं। इसमें कहा गया है-राज्य सरकारों के विभिन्न कदम उठाने के बावजूद तस्वीर बहुत व्यथित करने वाली और अप्रिय है। प्राथमिकी न दर्ज होने और पुलिस द्वारा बलात्कार और हिंसा की शिकार महिलाओं के साथ असहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की शिकायतें लगातार मिल रही हैं।

सलाह के तहत प्रदेश सरकारों के लिए 21 'त्वरित कदमों' की सूची शामिल की गई है जिनमें महिलाओं से जुड़े सभी प्रकार के अपराधों में प्राथमिकी दर्ज होना और प्राथमिकी में जिन आरोपियों के नाम दर्ज कराए गए हैं, उन्हें गिरफ्तार करना शामिल है।

गृह मंत्रालय का यह कदम हरियाणा के एक गांव में एक व्यक्ति की समान गोत्र की महिला से शादी के बाद हुई हत्या के बाद सामने आया है। व्यक्ति के इस कृत्य का ग्राम पंचायत ने विरोध किया था। उत्तरी प्रदेशों में खाप पंचायत के नाम से पहचानी जाने वाली ग्राम पंचायत ने व्यक्ति की हत्या के आदेश दिए थे।

केंद्र ने राज्य सरकारों से कहा कि प्रवर्तन एजंसियों को सुस्पष्ट तरीके से बता दें कि महिलाओं और बच्चों सहित कमजोर और संवेदनशील तबकों के अधिकारों को हल्के में नहीं लिया जाना चाहिए। इसमें कहा गया है कि महिलाओं के खिलाफ अपराध के मामलों में अपराध के तीन माह के भीतर आरोपपत्र दाखिल किया जाना चाहिए। इसमें जांच की गुणवत्ता से कोई समझौता नहीं होना चाहिए।

परामर्श के अनुसार प्रशासन और पुलिस को महिलाओं के खिलाफ अपराध की पहचान और जांच में और अधिक सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। केंद्र ने राज्यों से यह भी कहा है कि पुलिस में हर स्तर पर महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाए ताकि उनकी 33 फीसद भागीदारी हो। इसमें कहा गया है-अपराध-संभावित-इलाकों की पहचान होनी चाहिए और स्कूल-कालेजों में महिला विद्यार्थियों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिहाज से निगरानी होनी चाहिए। राज्यों को इस तरह के मामलों की सुनवाई के लिए फास्ट ट्रैक अदालतें और पारिवारिक अदालतें स्थापित करनी चाहिए।

उन्होंने कहा कि राज्य पुलिस कन्या भ्रूणहत्या को रोकने के लिए स्वास्थ्य विभाग के सहयोग से विशेष कदम उठा सकती है। यह भी कहा गया है कि बलात्कार पीड़ित महिलाओं के पुनर्वास पर ध्यान दिया जाए, जिसमें उन्हें पेशेवर काउंसलरों से परामर्श सुलभ कराने सहित सभी जरूरी मदद शामिल हो।

इज्जत के लिए हत्या पर तेज फैसला हो

कानून में संशोधन करने पर विचार करेगी केंद्र सरकार : पी. चिदंबरम

नई दिल्ली। सम्मान की रक्षा के नाम पर हत्याओं (ऑनर किलिंग) की निंदा करते हुए गृह मंत्री पी. चिदंबरम ने कहा कि सरकार इस बात पर विचार करेगी कि क्या ऐसे अपराधों के लिए कानून में कोई संशोधन की जरूरत है। राज्यसभा में मंगलवार को उन्होंने राज्य सरकारों से आह्वान किया कि वे ऐसे मामलों को त्वरित अदालतों को सौंप दें, जिससे जल्दी फैसला आ सके और वे उदाहरण बन सकें। उन्होंने कहा कि जाति आधारित पंचायतों को कोई हक नहीं है कि वे व्यक्तिगत मामलों में फैसला करें।

माकपा सदस्य वृंदा करात के ध्यानाकर्षण प्रस्ताव के जवाब में चिदंबरम ने कहा, संविधान के तहत पुलिस और लोक व्यवस्था राज्य के विषय हैं। विभिन्न

चिंताजनक

- जाति आधारित पंचायतों पर कई सदस्यों ने जताई चिंता
- हरियाणा, पंजाब और यूपी समेत कई राज्यों में घटनाएं

सदस्यों द्वारा ऐसे अपराधों के लिए विशेष कानून बनाने की मांग पर चिदंबरम ने कहा कि ऐसे मामलों में हत्या से संबंधित कानून के तहत कार्रवाई की जानी चाहिए। हालांकि वह विचार करेंगे कि क्या विशेष विवाह कानून में संशोधन की कोई जरूरत है।

चिदंबरम ने कहा कि हरियाणा, पंजाब और उत्तर प्रदेश समेत कई राज्यों में ऐसी घटनाएं हो रही हैं। जहां दोनों में कोई एक पक्ष दलित हो, वहां ऐसे मामले विशेष रूप से देखने को मिलते हैं।

गृहमंत्री ने जाति आधारित पंचायतों को दोषी ठहराते हुए कहा कि ऐसे मामलों में शामिल लोगों को आरोपी बनाकर कार्रवाई की जानी चाहिए। चिदंबरम ने ऐसे मामलों से बचने के लिए शिक्षा का प्रसार, शहरीकरण, जागरूकता जैसे उपायों को प्रभावी बताया। उन्होंने कहा कि इस संबंध में राज्यों को परामर्श जारी किए गए हैं।

इससे पहले बृंदा करात ने कहा कि देश की राजधानी से सिर्फ 50-60 किलोमीटर की दूरी पर ऑनर किलिंग की घटनाएं हो रही है। उन्होंने कहा कि जिस तरह से सती प्रथा के उन्मूलन के लिए नए कानून की मदद लेनी पड़ी, उसी तरह ऐसे मामलों में भी विशेष कानून की आवश्यकता है। भाजपा, कांग्रेस, सपा और भाकपा के सदस्यों ने भी जातिगत पंचायतों के असंवैधानिक बताते हुए ऐसे मामलों को रोकने पर जोर दिया। **एजेंसी**

बजट में लैंगिक दृष्टिकोण की दरकार

मुद्दा

अलका आर्य

छह जुलाई को पेश होने वाले आम बजट पर सबकी निगाहें हैं लेकिन देश के महिला संगठनों को इसका खास इन्तजार है। यूं तो वित्त मंत्री सालाना नियमित बजट नियोजन प्रक्रिया में विभिन्न दलों, समूहों से सलाह मशविरा करते हैं, लेकिन महिला संगठनों के साथ विचार विमर्श कर बजट को महिला अनुकूल बनाने की आवश्यकता अक्सर वित्त मंत्री महसूस नहीं करते। अक्सर महिला संगठनों के प्रतिनिधियों को उनसे मुलाकात के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ती है। इस बार भी मशक्कत की लेकिन वित्त मंत्रालय ने वित्त मंत्री प्रणब मुखर्जी की अतिव्यस्तता का हवाला देते हुए मुलाकात का वक्त नहीं दिया।

बहरहाल बीते दिनों अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति व अन्य संगठनों ने महिलाओं के लिए बजट में खास प्रावधान करने संबंधी पत्र वित्त मंत्री को भेजे। सिर्फ रसोई गैस, रसोई के अन्य उपकरण, सौंदर्य प्रसाधन सामग्री, साड़ी आदि सस्ती करने व आय कर में छूट भर से महिला सशक्त होती है, यह एक सुनियोजित भ्रम है। महिला संगठन महिलाओं के शैक्षणिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक सशक्तीकरण के लिए महिला अनुकूल बजट बनाने की वकालत करते हैं। ध्यान देने वाला तथ्य यह है कि बजट महिलाओं की जिंदगी को कई तरह से प्रभावित करता है। यह महिला कार्यक्रम के लिए आवंटित बजटीय अनुदान के जरिये प्रत्यक्ष रूप से महिला विकास को प्रोत्साहित करता है व कटौती में महिला सशक्तीकरण के अवसरों को कम करता है। लिहाजा महिला संगठन बजट से पहले देश के वित्त मंत्री से मुलाकात कर उन्हें अपनी चिंताओं से अवगत करवाना चाहते हैं ताकि केन्द्रीय बजट में 'जैंडर कंपोनेंट' को बढ़ाया जा सके।

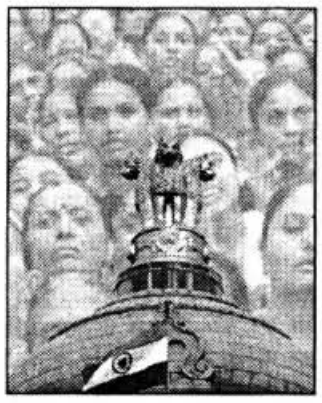

वामपंथी विचारधारा वाली अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति की मांग है कि दसवीं पंचवर्षीय योजना की मध्यावधि आकलन कमेटी की हर मंत्रालय व विभाग को अपने बजट का 30 प्रतिशत महिलाओं पर खर्च करने वाली अनुशंसा का सख्ती से पालन नहीं हो रहा। विभिन्न मंत्रालयों में बनाए गए जैंडर सैल को मजबूती प्रदान करने के लिए बिना किसी रुकावट के रकम आवंटित की जाए। केन्द्र व राज्य सरकारें व्यय के संदर्भ में अधिकतम पारदर्शिता बरतें व जवाब देही भी अपने ऊपर लें। 'वूमेन पॉवर कनैक्ट' ने अपने महिला चार्टर में सकल घरेलू अत्पाद का 3 प्रतिशत स्वास्थ्य व 6 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करने की मांग की है। लड़कियों की शिक्षा पर खास तवज्जो देने संबंधी सुझाव के साथ-साथ देश में लड़कियों की संख्या में गिरावट को रोकने के लिए विशेष रकम के आवंटन की मांग भी की है। कार्यबल में महिलाओं की बराबर की भागीदारी व महिलाओं के संदर्भ में समान काम-समान वेतन वाले नियम का कड़ाई से लागू नहीं होने वाले तथ्य पर वित्त मंत्री का ध्यान आकर्षित किया है। अपने देश में वर्ष 2004 तक जैंडर बजट की प्रक्रिया में समीक्षा व पूर्व बजट के आवंछित लैंगिक विशेष परिणामों पर चर्चा शामिल थी लेकिन 2005 में दृश्य बदला है।

लैंगिक बजट के महत्व को समझने वाले अर्थशास्त्रियों और महिला संगठनों के जवाब के कारण वित्त मंत्रालय ने वर्ष 2005 में सभी मंत्रालयों को अपने-अपने यहां जैंडर बजटिंग सेल बनाने के लिए कड़े निर्देश दिए। उसका पालन भी हुआ और आज तक तकरीबन 50 मंत्रालय व विभागों में ऐसे सेल हैं। लेकिन सैल बनाने मात्र से महिलाएं सशक्त नहीं हो सकती। आज भी नीति निर्माता व योजनाकार रकम आवंटित करते वक्त खास वर्ग की महिलाओं की जरूरतों के लिए सूक्ष्म व संवेदनशील नजरिया नहीं अपनाते। उनकी सोच में इस मुद्दे के प्रति स्पष्ट समझ का अभाव भी झलकता है। मसलन समेकित बाल विकास योजना, सामाजिक न्याय मंत्रालय और फैशन डिजाइनिंग इन्डस्ट्री के बजट को महिलाओं पर खर्च होने वाले मद में रखा जाता है। दरअसल जैंडर बजटिंग कई गलत पूर्वानुमानों पर भी आधारित हैं। स्वास्थ्य व परिवार कल्याण मंत्रालय के 2006-07 जैंडर बजट के तहत दिल्ली में एम्स व सफदरजंग अस्पताल को आवंटित 100 प्रतिशत रकम पुरुष प्रधान मानसिकता को दर्शाती है, बच्चे, गर्भ निरोधक व परिवार नियोजन संबंधी नीतियां/योजनाएं खासतौर पर महिलाओं के लिए ही हैं – हमारे बजट यही बोलते हैं।

कई मर्तबा सरकार की बॉडी लैंग्वेज महिलाओं पर खास अहसान जताने वाली होती है। जबकि हकीकत यह है कि सितम्बर 1995 में चीन की राजधानी बीजिंग में चतुर्थ विश्व महिला सम्मेलन व सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्लेटफॉर्म फॉर एक्शन में सभी माइक्रो इकॉनमिक नीतियों व उनके बजटीय आयामों में लैंगिंक दृष्टिकोण को अपनाने पर जोर दिया गया और हमें यह नहीं बोलना चाहिए कि भारत ने उस पर हस्ताक्षर भी किए हैं। वित्त मंत्री प्रणब मुखर्जी इस जैंडर को कितना महत्व देते हैं, यह जल्द ही स्पष्ट हो जाएगा।

बजट से महिलाएं भी नाखुश

महंगाई पर काबू न पाने पर निराशा जताई

जनसत्ता संवाददाता

नई दिल्ली, 8 जुलाई। मौजूदा बजट प्रस्ताव पर तमाम महिला संगठनों ने चिंता जताई है। खासकर महिलाओं के लिए विशेष योजना बजट न होने और महंगाई पर नियंत्रण के कोई उपाय न किए जाने पर महिला संगठनों ने रोष जताया है। अखिल भारतीय जनवादी महिला संगठन, सेंटर फार सोशल रिसर्च व अन्य संगठनों ने महिला विकास केंद्रित बजट की मांग की है।

मौजूदा बजट में तमाम खामियां गिनाते हुए एडवा महासचिव सुधा सुंदररमन ने कहा कि जिस आम आदमी और आम औरत ने हाल में हुए चुनाव में यूपीए सरकार में भरोसा जताया था उसी को सरकार ने निराश किया है। धोखा दिया है। एक साल में विकास दर में 2.3 फीसद की गिरावट हुई है इसका सबसे ज्यादा और सीधा असर महिलाओं पर होगा। एडवा ने इस वर्ग को राहत देने की मांग की है। उन्होंने कहा कि राष्ट्रपति प्रतिभा देवी सिंह पाटील ने भाषण में जिस महिला विकास की बात कही थी यह बजट उसे पूरा करता नहीं दिखता।

उन्होंने कहा कि बजट में खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने पर जोर नहीं है। इससे महिलाओं और बच्चों ने भुखमरी और कुपोषण बढ़ेगा। खाद्य सहायता अनुदान में मामूली बढ़ोतरी से कोई हल नहीं निकलेगा। दोपहर में भोजन योजना में भी कोई बढ़ोत्तरी नहीं की गई है।

इसी तरह रोजगार के लिए नरेगा का बजट भले बढ़ा दिया गया है लेकिन इसमें महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने या शहरी गरीब के लिए कुछ स्पष्ट तौर पर नहीं है। सेंटर फार सोशल रिसर्च की निदेशक डा. रंजना कुमारी ने कहा है कि महिला रोजगार के लिए खास नीति बना कर बजट मिलना चाहिए। सरकार ने राष्ट्रीय महिला नीति के आधार पर महिलाओं के लिए बजट का प्रावधान नहीं किया है। खेती में लगी महिलाओं को भी कोई ध्यान नहीं रखा गया। महिला कल्याण मंत्रालय का बजट बढ़ाने के बजाए घटा दिया गया है। इस नोडल मंत्रालय का बजट पिछले साल 466.5 करोड़ था जो अब की बार घटा कर 385.13 करोड़ कर दिया गया है। इसी तरह कामकाजी महिलाओं के आवास के पद में भी कटौती की गई है। जहां पिछले बजट में महिला छात्रावास के लिए 20 करोड़ रुपए का प्रावधान था वहीं अबकी बार इसे कम करके 10 करोड़ रुपए कर दिया गया है।

बजट एक नजर में

नई दिल्ली, 6 जुलाई (भाषा)। वित्त मंत्री प्रणब मुखर्जी ने सोमवार को लोकसभा में 2009-2010 का बजट पेश किया। उसके मुताबिक सरकारी प्राप्तियों और व्यय का एक नजर में ब्यौरा इस प्रकार है :

प्राप्तियां

(बजट आकलन : करोड़ रुपए में)

1. निगमित कर : 256, 725
2. आयकर : 112, 850
3. सीमा शुल्क : 98, 000
4. उत्पाद शुल्क : 106,477
5. सेवा कर : 65, 000
6. अन्य कर एवं शुल्क : 2027
7. कुल गैर कर राजस्व : 140, 279
8. राज्यों की हिस्सेदारी : (घटाना) 164, 361
9. आपात फंड : (घटाना) 2500

कुल कर राजस्व : 614, 497

व्यय (गैर योजना)

1. ब्याज भुगतान : 225, 511
2. रक्षा : 86, 879
3. सब्सिडी : 111, 276
4. राज्यों और केंद्रशासित क्षेत्रों को अनुदान : 48, 570
5. पेंशन : 34, 980
6. अन्य मद : 188, 473

कुल गैर योजना खर्च : 695, 689

व्यय (योजना)

1. केंद्रीय योजना : 200, 290
2. राज्यों और संघशासित क्षेत्रों के लिए सहायता : 78, 108
3. राज्य योजना : 74, 362
4. संघशासित क्षेत्र योजना : 3746

पूंजी व्यय

1. केंद्रीय योजना : 39, 550
2. राज्यों और संघशासित क्षेत्रों को सहायता : 7201
3. राज्य योजना : 5705
4. संघशासित क्षेत्र योजना : 1496

कुल योजना व्यय : 325, 149

केंद्रीय योजना के लिए कुल बजटीय समर्थन : 239, 840

राज्यों और संघशासित क्षेत्रों के लिए कुल केंद्रीय सहायता : 85, 309

कुल खर्च : 10, 20, 838

बजट की मुख्य बातें

:अर्थव्यवस्था वृद्धि दर नौ फीसद पर लाने की योजना।

: जीडीपी वृद्धि दर वित्त वर्ष 2008-09 में घटकर 6.7 फीसद।

: राजकोषीय घाटा 2.7 फीसद से बढ़कर 6.8 फीसद।

: आम आदमी सभी योजनाओं के केंद्र में।

: आयकर छूट : वरिष्ठ नागरिकों के लिए सीमा 15,000 रुपए बढ़ी

: महिलाओं सहित सभी करदाताओं के लिए आयकर छूट सीमा 10,000 रुपए बढ़ी।

: व्यक्तिगत आयकर पर 10 फीसद अधिभार समाप्त

: वेतनेत्तर लाभ एफबीटी समाप्त

: निगमित कर में कोई बदलाव नहीं।

: रक्षा बजट में 34 फीसद बढ़ोतरी

: बुनियादी ढांचे के लिए फंडिंग बढ़ाने की प्रणाली पर विचार करेगी आईआईएफसीएल

: राजमार्गों के लिए आबंटन में 23 फीसद बढ़ोतरी

: शहरी गरीबों के आवास, सुविधाओं के लिए आबंटन बढ़ा।

: जेएन शहरी जीर्णोद्धार मिशन के लिए आबंटन 87 फीसद बढ़ा।

: कृषि क्षेत्र को अधिक रिण देने का लक्ष्य।

: त्वरित सिंचाई योजना के लिए अतिरिक्त आबंटन

: निर्यात रिण गारंटी योजना मार्च 2010 तक बढ़ी।

: दो फीसद ब्याज सहायता योजना मार्च 2010 तक बढ़ी।

: जिंस सौदा कर (सीटीटी) समाप्त

: नई पेंशन प्रणाली ट्रस्ट को एसटीटी, डीडीटी से छूट

: न्यूनतम विकल्प कर पांच फीसद बढ़ा।

: पेट्रो क्षेत्र में कर छूट प्राकृतिक गैस पर भी।

: राजनीतिक दान पर सौ फीसद कर कटौती

: प्रिंट मीडिया के लिए प्रोत्साहन छह माह और।

: पोषण आधारित होगी उर्वरक सब्सिडी।

: सार्वजनिक बने रहेंगे बैंक और बीमा

: नए क्षेत्रों में विस्तार के लिए सौ करोड़ रुपए का एकमुश्त अनुदान

: नरेगा के लिए 39,100 करोड़ रुपए

: राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा योजना पर काम शुरू

: भारत निर्माण योजना के लिए आबंटन 45 फीसद बढ़ा।

: राष्ट्रीय आवास बैंक के तहत 2,000 करोड़ रुपए का ग्रामीण आवास कोष।

: चुनिंदा संस्थानों में विद्यार्थियों को पूर्ण ब्याज अनुदान

: राष्ट्रीय रोजगार कार्यालयों का उन्नयनीकरण।

: नए पेंशन लाभ जुलाई से, 12 लाख जवान व जेसीओ लाभान्वित होंगे।

: नागरिकों को विशेष पहचान कार्ड 12-18 माह में

: विशेष पहचान कार्ड परियोजना के लिए 120 करोड़ रुपए का प्रावधान।

: सीमा, उत्पाद शुल्क एवं सेवा कर की आधार दर अपरिवर्तित।

: इंदिरा आवास योजना का आबंटन 63 फीसद बढ़ा।

: आईटी रिटर्न सरल होगा।

: जलवायु परिवर्तन पर योजना के तहत आठ मिशन शुरू होंगे।

: बाजार विकास सहायता योजना का आबंटन बढ़ा।

: श्रीलंकाई तमिलों के पुनर्वास के लिए 500 करोड़ रुपए।

: पश्चिम बंगाल के चक्रवात प्रभावित इलाकों के लिए विशेष आबंटन।

: बजट का कुल परिव्यय पहली बार 10 लाख करोड़ रुपए से अधिक।

: राजस्व में प्रत्यक्ष करों का हिस्सा बढ़ा।

छह करोड़ पचास लाख विस्थापित लोग भूख की जैसी विकराल समस्या खड़ी करेंगे, कोई सरकार और बाजार उसे हल नहीं कर सकेगा। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा व्यवस्था को संविधान आधारित बनाने की जरूरत है। हर खेत में प्रचुर खाद्य पैदा करने और उसे हर रसोई में पहुंचाने की मूल शर्त है विकेंद्रीकरण। केंद्रीकरण के साथ आएगी कारपोरेटों की जकड़बंदी और विकेंद्रीकरण के साथ आएगा पर्याप्त भोजन।

भूख से लड़ाई है हमारी

वंदना शिवा
लेखिका जानी-मानी पर्यावरणविद् हैं।

यूपीए सरकार द्वारा प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा कानून स्वागत किए जाने योग्य कदम है। भोजन का अधिकार जीवन के अधिकार की बुनियादी जमीन है और भारतीय संविधान की धारा 21 सभी भारतीय नागरिकों के लिए जीवन के अधिकार की गारंटी करती है।

भारत मानो भूख की राजधानी बन रहा है। आर्थिक सुधारों के शुरुआती दौर में 1991 में प्रति व्यक्ति उपभोग 178 किलोग्राम था, जो 2000-2003 में 155 किलोग्राम रह गया। निचले स्तर के लोगों द्वारा प्रतिदिन ग्रहण की जाने वाली कैलरी का स्तर भी घटा है। कुल आबादी का पच्चीस प्रतिशत, जो 1987-88 में 1683 कैलरी ग्रहण करता था, 2004-05 में वह घटकर 1624 कैलरी रह गई है। राष्ट्रीय मानक के हिसाब से प्रतिदिन न्यूनतम ग्रामीण क्षेत्रों में 2400 और शहरी क्षेत्रों में 2011 कैलरी का उपभोग होना चाहिए। इन स्थितियों को देखते हुए खाद्य सुरक्षा को लेकर जरूरी कदम उठाना वैसे ही है, जैसे गहन राष्ट्रीय संकट के समय कोई जरूरी कदम उठाना।

इन सबके बावजूद खाद्य सुरक्षा को लेकर जो कदम उठाए गए हैं, उनमें कुछ पूर्वाग्रह और अंध बिंदु भी हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें खाद्य उत्पादन और खाद्य उत्पादकों को पूरी तरह दरकिनार किया गया है, जो घरेलू स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक खाद्य सुरक्षा का बहुत आधारभूत अंग हैं। आप तब तक लोगों तक भोजन नहीं पहुंचा सकते, जब तक आप यह सुनिश्चित नहीं करते कि पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न का उत्पादन किया जा रहा है।

इसे सुनिश्चित करने के लिए खाद्यान्न का उत्पादन करने वालों के जीवन को सबसे पहले सुनिश्चित करना जरूरी है। खाद्यान्न का उत्पादन करने के लिए खाद्यान्न के उत्पादकों का अधिकार दरअसल भोजन के अधिकार की सबसे पहली बुनियाद है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर यह अधिकार भोजन की प्रधानता और उसकी उपलब्धता के विचार के साथ विकसित हुआ है।

भोजन की प्रधानता सामाजिक-आर्थिक मानवाधिकारों से तय होती है, जिसमें खाद्यान्नका अधिकार और ग्रामीण समुदायों के लिए खाद्यान्न का उत्पादन करने का अधिकार भी शामिल है। खाद्य सुरक्षा के ये दो पहलू हमारी वर्तमान सोच और गतिविधियों से बिलकुल नदारद हैं। सबसे पहला है खाद्यान्न के उत्पादन का अधिकार और दूसरा राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा। हमारे छोटे-छोटे किसान देश के लिए खाद्यान्न पैदा करते हैं और उन्होंने राष्ट्र के एक अरब 20 करोड़ लोगों को खाद्यान्न की सुरक्षा प्रदान की है और आज वे खुद ही दुख और विपदा की स्थिति में हैं।

भारत में कृषि जिस अभाव और संकट की स्थिति से गुजर रही है, उसका सबसे दुखद चेहरा गुजरे एक दशक में लगभग दो लाख से ज्यादा किसानों द्वारा की गई आत्महत्या है। अगर खाद्यान्न पैदा करने वाले ही नहीं बचेंगे तो फिर राष्ट्र की खाद्य सुरक्षा का क्या होगा?

भारत खाद्यान्न पैदा करने वालों के अभाव और संकट की ओर से आंखें नहीं मूंद सकता। आंखें न मूंद सकने का दूसरा बड़ा कारण यह है कि हमारा ग्रामीण समुदाय खुद भयानक भूख के संकट से गुजर रहा है। वैश्विक स्तर पर भी दुनिया की आधी भूखी आबादी उन लोगों की है, जो खुद खाद्यान्न पैदा करते हैं। यह सीधे-सीधे खेती में निवेश होने वाले अधिक धन, रासायनिक पदार्थों और बड़े निवेश से संबंधित है और इन सबकी शुरुआत हुई हरित क्रांति के नाम पर। खेती के काम में महंगे निवेश के चलते किसान कर्ज में फंस जाते हैं और फिर कर्ज में फंसे हुए किसान जो कुछ भी पैदा करते हैं, कर्ज वापस चुकाने के लिए उन्हें वह सब अनाज बेचना पड़ता है।

किसानों की आत्महत्या भी खेती में महंगे निवेश के कारण होने वाले कर्ज से जुड़ी हुई है। खाद्यान्न पैदा करने वाले लोगों को भूख से बचाने का यही उपाय हो सकता है कि सस्ते, कम कीमत वाले कृषि उत्पादन को बढ़ावा दिया जाए और उसे आगे बढ़ाया जाए। ऐसी कृषि, जो कृषि और पारिस्थितिकी के सिद्धांतों पर आधारित हो।

यदि खाद्यान्न पैदा करने वालों के पास पर्याप्त भोजन होगा तो इसका असर सिर्फ ग्रामीण समुदायों की भूख पर ही नहीं पड़ेगा, बल्कि उनकी भूख पर भी पड़ेगा, जिन्हें ये उत्पादक भोजन प्रदान करते हैं। यही कारण है कि कारपोरेट कृषि और ठेका कृषि इस समस्या का सही समाधान नहीं है। यह देश जिस तरह की भूख और कुपोषण की स्थितियों का सामना कर रहा है, उसे देखते हुए भी यह उचित समाधान नहीं है। जैसेकि कारपोरेट खाद्यान्न निर्माण की प्रक्रिया को हथिया रहे हैं और मिड-डे मील जैसी योजनाएं खाद्य सुरक्षा नियमों को हाइजैक करने की कोशिश है।

सरकार की नीतियां कॉरपोरेट वर्ग के हितों के पक्ष में झुकी हुई हैं। पीडीएस को बदलकर फूड स्टैंप या फूड वाउचर सिस्टम बनाने की बात कॉरपोरेट वर्ग के प्रति पूर्वाग्रह से ही पैदा हुई है। इसके पीछे कुछ ऐसा विचार है कि कॉर्पोरेशन खाद्यान्न की आपूर्ति को नियंत्रित करेंगे और सरकार फूड स्टैंप और वाउचर के आधार पर गरीबों को कॉर्पोरेशन से खाद्यान्न खरीदने में सक्षम बनाएगी। इसके बाद गरीब अस्वास्थ्यकर खाद्यान्न लेने को मजबूर होंगे, जैसाकि अमेरिका जैसे देशों में हो चुका है।

इन उदाहरणों में यही पूर्वाग्रह निहित है कि गरीब तो खराब खाना भी खा सकते हैं। अच्छे भोजन की जरूरत सिर्फ अमीरों को है। खाद्य सुरक्षा में सुरक्षित, स्वास्थ्यवर्द्धक, सांस्कृतिक रूप से संगत और आर्थिक रूप से वहनीय खाद्यान्न का अधिकार भी सुरक्षित है। फूड स्टैंप इसकी गारंटी नहीं दे सकते। इससे भी बढ़कर पीडीएस कोई एकतरफा व्यवस्था नहीं है। इसमें खाद्य की खरीद और वितरण दोनों शामिल है। फूड वाउचर खाद्यान्न पैदा करने वालों का प्रभुत्व समाप्त कर देंगे, उन्हें बाजार की अनिश्चितताओं का लाचार बना देंगे और अंततः उनकी जीविका को नष्ट कर देंगे। छह करोड़ पचास लाख विस्थापित और भूखे ग्रामीण लोग भूख की जैसी विकराल समस्या खड़ी करेंगे, कोई सरकार और बाजार उस समस्या को हल नहीं कर सकेगा। इसलिए खाद्य सुरक्षा को मजबूत बनाने के लिए हमें खाद्यान्न की उपलब्धता और पीडीएस व्यवस्था को और मजबूत बनाना चाहिए। यह प्रस्ताव कि केंद्र गरीब लोगों की शिनाख्त करेगा, भारतीय संविधान के संघीय ढांचे के ही विरुद्ध है। जैसाकि पंजाब के मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल ने कहा, 'राज्यों को हर चीज के लिए केंद्र के पास भिखारियों की तरह जाना है। बस हमें सम्माननीय नगरपालिका बनाकर रख दिया गया है।'

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा व्यवस्था को संविधान आधारित बनाने की जरूरत है। हर खेत में बेहतरीन और प्रचुर खाद्य पैदा करने और उसे हर रसोई में पहुंचाने की मूल शर्त है विकेंद्रीकरण। केंद्रीकरण के साथ आएगी कारपोरेटों की जकड़बंदी और विकेंद्रीकरण के साथ आएगी पर्याप्त खाद्यान्न की उपलब्धता।

भोजन की प्रधानता सामाजिक-आर्थिक मानवाधिकारों से तय होती है, जिसमें खाद्यान्नका अधिकार और ग्रामीण समुदायों के लिए खाद्यान्न का उत्पादन करने का अधिकार भी शामिल है।

भुखमरी और सार्वजनिक वितरण प्रणाली

मुद्दा

प्रवीण कुमार

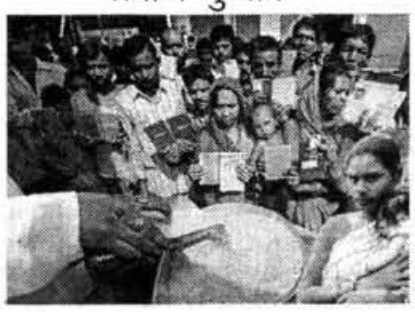

भारत में भूख और अनाज की उपलब्धता' पर पिछले दिनों नवदान्य ट्रस्ट की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि देश का हर चौथा व्यक्ति भूखा है और पिछले 10 सालों में एक व्यक्ति द्वारा उपभोग की जाने वाली खाद्य सामग्री की खपत 186 किलोग्राम से घटकर 152 किलोग्राम हो गई है। इस आंकड़े को देश की वास्तविक महंगाई की दर जो करीब दस फीसद है से मिलाकर देखें तो साफ होगा कि एक आम आदमी पर कीमतों का बोझ किस कदर है। सवाल है कि ऐसा क्यों हुआ? इसका जवाब काफी विस्तृत है किंतु सबसे अहम बिंदु यकीनन खाने-पीने की चीजों के वितरण पर निजी कंपनियों की बढ़ता दखल है। सवाल है कि निजीकरण की दिशा में हम इतने आगे निकल आए हैं कि पीछे लौटना संभव नहीं है। ऐसे में सबसे अधिक चिंता गरीबों या फिर कम आय वर्ग के लोगों को पेट भर खाना मिलने की व्यवस्था करने को लेकर होनी चाहिए। क्या इसके लिए सरकार तैयार दिखती है? शायद नहीं। या फिर यह उसकी प्राथमिकता के पायदान में काफी नीचे है। ऐसा न होता तो सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली को कमजोर नहीं होने देती।

दरअसल सार्वजनिक वितरण प्रणाली की व्यवस्था इसलिए की गई थी कि कोई भूखा न रहे। जब नई आर्थिक नीतियां आई तो इसकी जरूरत और बढ़ गई क्योंकि इससे आर्थिक असंतुलन बढ़ना तय था।' यहां तक कि नई आर्थिक नीति के समर्थक भी इस बात से इनकार नहीं करते हैं कि इसे अपनाने के बाद किसी भी देश में अमीर-गरीब की खाई सालों के लिए पहले से भी कहीं चौड़ी हो जाती है। इन हालात में सार्वजनिक वितरण प्रणाली जारी तो रही किंतु इसका लाभ हासिल नहीं हुआ। दोष प्रणाली में नहीं, इसे लागू करने के सिस्टम में घुसी खामियों को लेकर था। अब तो कृषि मंत्री भी मान रहे हैं कि समस्याएं हैं और इन्हें दूर करने की जो कोशिश की गई, उसमें कामयाबी नहीं मिली है। प्रणाली पूरी तरह नाकामयाब है यह इसी से जाहिर होता है कि अंतरराष्ट्रीय खाद्य नीति अनुसंधान संस्थान द्वारा तैयार वैश्विक भूख सूचकांक के आधार पर तैयार 88 देशों की सूची में हमारा स्थान 66वां है। आज सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले 6.52 करोड़ परिवारों को रियायती दरों पर 35 किलो खाद्यान्न उपलब्ध कराया जाता है। इन्हें चावल 4.15 और गेंहू 5.65 रुपए प्रति किलो बेचा जाता है। इसी तरह गरीबी रेखा के ऊपर के 11.52 करोड़ परिवारों को चावल 8.3 और गेंहू 6.10 रुपए प्रति किलो की दर से दिया जा रहा है। यह सरकारी आंकड़ा है जिसके अनुसार कुल 18.04 करोड़ परिवार इसका लाभ उठा रहे हैं। अब एक परिवार में औसत पांच सदस्य मानें तो देश के कुल 90 करोड़ लोग इस योजना के अंतर्गत आ जाते हैं। यह आंकड़ा कोरा झूठ नहीं तो क्या है। यह सच होता तो देश की एक चौथाई आबादी भूखी कैसे होती।

दरअसल सार्वजनिक वितरण प्रणाली पंगु बना दी गई है। भ्रष्टाचार का सबसे भयावह रूप यहां मौजूद है। गत तीन सालों में देश के कुल 15 फीसद राशन दुकानों के लाइसेंस निलंबित या स्थायी रूप से रद्द किये गये हैं। करीब 14 हजार लोग गिरफ्तार हैं या उन पर मुकदमा चला है। ऐसी हालत में सरकार की नई योजना- जिसके तहत राष्ट्रीय सुरक्षा खाद्य अधिनियम लाकर प्रत्येक भूखे परिवार को 25 किलो खाद्यान्न तीन रुपए की दर से मिलना है की सफलता भी संदिग्ध है। योजना कोई हो, भ्रष्टाचार से मुक्ति जरूरी है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली में विस्तार की योजना में भी कोई खामी नहीं है लेकिन पहले यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि इसका लाभ वाकई सही लोगों को मिले। वैसे यह प्रणाली पूरे देश में समान रूप से उपलब्ध भी नहीं है, जैसे पूर्वोत्तर राज्यों में नहीं है। फिर अनाज पाने के लिए राशन कार्ड अनिवार्य हैं और अनाज महीने में केवल एक बार हासिल होता है जिसकी तिथि भी तय नहीं होती। ऐसी स्थिति में लाभ केवल कालाबाजारियों को होता है। कई विशेषज्ञ इन हालातों में इस प्रणाली का विकल्प फूड बैंक और फूड स्टांप व्यवस्था मान रहे हैं। लेकिन इसे अपनाने में भी काफी समस्याएं हैं।

बेहतर यही है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को ही मजबूती दी जाए। कालाबाजारियों पर सख्ती और योजना को आकर्षक बनाने की जरूरत है। अभिजीत सेन समिति की रिपोर्ट जिसमें इस प्रणाली के दायरे में देश के सभी नागरिकों को लाने की बात है, अगर स्वीकार कर ली जाती है तो महंगाई और भुखमरी दोनों से निजात पाने में आसानी होगी, इसमें संदेह नहीं।

गरीबों को राशन नहीं, रुपए मिलेंगे

मिली राहत

- सरकार जो रुपए देगी, वह राशन दुकान और बाजार का अंतर मूल्य होगा
- योजना आयोग ने की प्रस्ताव की सराहना
- अगले माह लगा सकती है प्रस्ताव पर मोहर

नई दिल्ली (एसएनबी)। गरीबों के राशन में गोलमाल और धांधली से आजिज दिल्ली सरकार बीपीएल कार्डधारकों को अब अनाज के बदले रुपए देगी। यह रुपए राशन दुकान और बाजार का अंतर मूल्य होगा। योजना आयोग ने इस प्रस्ताव की सराहना की है और वहां से हरी झंडी मिलते ही दिल्ली सरकार बीपीएल कार्डधारकों के खाते खुलवाकर रुपए देना शुरू कर देगी। इसके तहत लगभग 35 करोड़ रुपए से ज्यादा की धनराशि कार्ड धारकों के बैंक खाते में प्रतिमाह जमा होगी।

दिल्ली में इस समय करीब 31 लाख राशन कार्ड धारक हैं जिनमें चार लाख नौ हजार बीपीएल योजना के तहत पंजीकृत हैं। इस तरह की महत्वाकांक्षी योजना को अंतिम रूप देने से पहले सरकार ने गरीबों के बीच एक सर्वे भी कराया था जिसमें गरीबों ने राशन दुकानदारों को न केवल जमकर खरी-खोटी सुनाई बल्कि ज्यादातर दुकानें हमेशा बंद रहने की भी शिकायतें की थी। गरीबों को जब महत्वाकांक्षी योजना के बारे में बताया गया तो उन्होंने एकमत होकर इसका स्वागत किया। उसी के बाद सरकार ने यह प्रस्ताव योजना आयोग में भेज दिया। योजना आयोग ने भी इस प्रस्ताव की सराहना की और माना जा रहा है कि अगले माह तक योजना आयोग इस पर अपनी मोहर लगा देगा।खाद्य एवम् आपूर्ति विभाग का मानना है कि बीपीएल कार्ड धारकों के राशन के नाम पर जो अनुदान अभी दिया जा रहा है उसे यदि सीधे कार्ड धारकों के खाते में जमा कर दिया जाए तो कार्ड धारक मनचाही दुकानों से बाजार मूल्य पर राशन खरीद सकेंगे और 2,544 राशन की दुकानों में होने वाले गोलमाल व धांधली बंद हो जाएगी। योजना आयोग की मंजूरी मिलते ही खाद्य एवं आपूर्ति विभाग अपने क्षेत्रीय कार्यालयों के माध्यम से सभी कार्ड धारकों के बैंक खाते खुलवाएगा और राशन दुकानों व खुले बाजार का जो अंतर मूल्य है वह एक मुश्तराशि उनके खातों में हर माह जमा हो जाएगी। सरकार का अनुमान है कि इस मद में हर माह करीब चार करोड़ दस लाख रुपए गरीबों के बैंक खातों में जमा होंगे जिससे वे गेहूं-चावल ही नहीं राशन के नाम पर अन्य सामान भी खरीदने के लिए स्वतंत्र होंगे।

यदि भारत को इतिहास रचना है तो अपनी नैतिक और राजनीतिक प्रतिबद्धताओं के आधार पर उसे 'भोजन का अधिकार' कानून बनाना होगा। देश के संसाधनों पर पहला हक उन पुरुषों, महिलाओं और लड़के-लड़कियों का होना चाहिए, जो सबसे ज्यादा अभावग्रस्त हैं। भोजन का अधिकार कानून हमारी सरकार और देशवासियों को हर घर से भूख को बाहर खदेड़ने के लिए मजबूर करेगा।

हर मुंह को मिले निवाला

हर्ष मंदर
लेखक भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रहे हैं।

ऐसे देश में जहां संपन्नता और विपन्नता सदियों से एक साथ कायम हो, वहां ऐसा कोई कानून बहुत महत्वपूर्ण हो सकता है, जो सरकार को इस बात के लिए बाध्य करे कि कोई पुरुष, महिला या बच्चा भूखा न सोने पाए। केंद्र की नई सरकार ने अपने लोगों से इसी संदर्भ में भोजन का अधिकार कानून बनाने का वायदा किया है। इस कानून की रूपरेखा के लिए सरकार के भीतर और बाहर बहस शुरू हो चुकी है। यदि यह कानून पारित हो जाता है तो सूचना का अधिकार कानून और राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम के साथ-साथ यह मानवीय और जवाबदेह प्रशासन की दिशा में इस सरकार का सबसे महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है।

अकाल की वजह से लाखों लोगों के मरने की बातें आजाद भारत में इतिहास का हिस्सा बन चुकी हैं, लेकिन यहां आज भी कहीं-न-कहीं आदमी, औरत और बच्चे भूख से बिलखते हैं। अभावग्रस्त लोगों को कई बार दिन में एक ही बार खाना खाकर संतोष करना पड़ता है। कई बार वे खाने के लिए भीख मांगते हैं या फिर कंदमूल, घास और आम की गिरी को खाते हैं। इससे उनका पेट तो भर जाता है, लेकिन पोषण नहीं मिलता। कभी-कभार उन्हें चावल पकाने के बाद बचा स्टार्च का पानी पीकर संतोष करना पड़ता है, जो उनके पड़ोसी देते हैं। उनके बच्चे खाली पेट सोने को मजबूर होते हैं और अकसर साधारण सी बीमारी के आगे हार जाते हैं। यहां पर पैदा होने वाले तकरीबन आधे बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं और तीन में से दो महिलाएं रक्ताल्पता की शिकार हैं क्योंकि परिवारों में भी महिलाएं सबसे कम खाती हैं और तभी खाती हैं, जब सभी लोग खा चुके होते हैं।

सरकार अब तक भुखमरी से इनकार करती रही है और कुपोषण को खत्म करने में नाकाम रही है। वर्ष 2001 में सुप्रीम कोर्ट द्वारा इस मामले में दखल देने से पहले वह कई खाद्य योजनाएं चलाती थी, लेकिन इसका कोई भरोसा नहीं होता था कि वह कब तक जारी रहेंगी। सरकार इन्हें वापस ले सकती थी और इनका दायरा भी कम किया जा सकता था। सुप्रीम कोर्ट ने निर्देश दिया कि सरकार किसी खाद्य योजना को वापस नहीं ले सकती। बहरहाल, भोजन का अधिकार कानून के जरिए सरकार के पास यह जताने का अच्छा मौका है कि देश के सभी लोगों के लिए भोजन की सहज उपलब्धता को लेकर वह कितनी गंभीर है।

हालांकि सरकार के भीतर ऐसे कई लोग है, जो इस कानून के तहत सरकार की भूमिका को कम रखना चाहते हैं। जैसे ही राष्ट्रपति ने यह घोषणा की कि भोजन का अधिकार कानून बनाना नई सरकार की शीर्ष प्राथमिकताओं में शामिल है, खाद्य व नागरिक आपूर्ति मंत्रालय ने एक प्रस्ताव जारी किया, जिसमें इस प्रस्तावित कानून के तहत सरकार की भूमिका महीने में सिर्फ 25 किलोग्राम चावल और गेहूं 3 रुपए प्रति किलो की दर से आपूर्ति करने तक सीमित रखने की कोशिश की गई। यह भी आबादी के एक छोटे से तबके के लिए, जिन्हें सरकार 'गरीब' मानती हो। दबे सुरों में यहां तक कहा गया कि इससे भी सरकारी खजाने पर काफी बोझ पड़ेगा। लेकिन इसके कुछ समय बाद यूपीए की चेयरपर्सन सोनिया गांधी ने नई सरकार के गठन के बाद प्रधानमत्री को अपना पहला पत्र लिखते हुए ऐसा बिल लाने की बात कही, जो कहीं ज्यादा व्यापक तरीके से भूखे लोगों को समुचित भोजन का भरोसा दिलाए। उन्होंने कहा कि इसके मसौदे में ऐसे लोगों का खासतौर पर उल्लेख किया जाए, जो गंभीर रूप से भोजन के अभाव से ग्रस्त हैं, जैसेकि अकेली महिला, अपंग या वृद्ध व्यक्ति, सड़कों पर पलने वाले बच्चे, बंधुआ मजदूर, खेतिहर मजदूर और चिथड़े बीनने वाले लोगों समेत शहरी बेघर लोग।

> अभावग्रस्त लोगों को कई बार दिन में एक ही बार खाना खाकर संतोष करना पड़ता है। कई बार वे खाने के लिए भीख मांगते हैं या फिर कंदमूल, घास और आम की गिरी को खाते हैं।

उनकी इस पहल में ब्राजील के राष्ट्रपति लुला द सिल्वा के शब्दों की झलक थी, जब उनके देश ने इसी तरह से एक खाद्य गारंटी योजना 'हंगर जीरो' लांच की थी। लुला ने विश्वास जताते हुए कहा, 'हम अपने देश के लोगों के लिए यह संभव कर देंगे कि उन्हें रोज तीन वक्त खाने को मिले, जिसके लिए किसी को हाथ न फैलाना पड़े। ब्राजील इस तरह की विषमता के साथ और आगे नहीं जा सकता। हमें भूख, गरीबी और सामाजिक विषमता पर काबू पाना होगा। हमारी जंग किसी को मारने के लिए नहीं है। यह जिंदगी बचाने के लिए है।' ब्राजील की खाद्य सुरक्षा नीति का उपशीर्षक भी उतना ही जबरदस्त है - ऐसे ब्राजीली नागरिक जिन्हें भोजन नसीब होता है, वे उनकी मदद करें जिनके पास भोजन नहीं है।

यदि भारत को फिर से इतिहास लिखना है तो उसे ऐसी नैतिक और राजनीतिक प्रतिबद्धताओं के आधार पर ही भोजन का अधिकार कानून बनाना होगा। देश के संसाधनों पर पहला हक उन पुरुषों, महिलाओं और लड़के-लड़कियों का होना चाहिए, जो सबसे ज्यादा अभावग्रस्त है। भोजन का अधिकार हमारी सरकार और देशवासियों को हर घर से भूख को बाहर खदेड़ने के लिए मजबूर करे। इसमें संसाधनों का पुनर्वितरण करते हुए उन तक पहुंचाया जाए, जिनके पास इसकी कमी है। इस कानून के तहत देश के हर नागरिक के लिए पोषक आहार का भरोसा दिया जाए। अभावग्रस्त लोगों को इस बात की चिंता न करनी पड़े कि उन्हें या उनके परिजनों को कल खाना नसीब होगा या नहीं।

इस कानून में ऐसे सरकारी प्राधिकारियों के लिए दंड का प्रावधान भी हो, जो भूखे लोगों तक भोजन नहीं पहुंचा पाते। सरकारी अधिकारियों को दंडित किया जा सकता है यदि यह साबित हो जाए कि उन्होंने अपनी हिरासत में किसी व्यक्ति को मार दिया है। लेकिन यदि कोई बच्चा इस वजह से मर जाता है कि सरकारी तंत्र अपना कर्त्तव्य ठीक से नहीं निभा सका तो भी उसे दंड का सामना नहीं करना पड़ता। यह कानून बेअसर होगा, यदि इससे यह स्थिति नहीं बदलती।

इस कानून के तहत सरकार को कई लिहाज से उन लोगों तक भोजन पहुंचाना होगा, जो भूख से परेशान हैं। शारीरिक व मानसिक तौर पर स्वस्थ पुरुष व महिलाओं के लिए सरकार को ग्रामीण इलाकों व शहरों में अच्छे मेहनताने पर गारंटी रोजगार देना ही पर्याप्त है। सरकार रियायती दरों पर चावल, गेहूं ही नहीं बल्कि दालें व तिलहन भी उपलब्ध कराए। इन खाद्यान्नों के खेतिहर उत्पादन को प्रोत्साहित करे और इसे सभी किसानों से वाजिब दामों में खरीदकर उचित भंडारण करे और उन इलाकों तक पहुंचाए, जहां इसका अभाव है। बच्चों के लिए भी समन्वित बाल विकास सेवा (आईसीडीएस) के केंद्रों और स्कूलों के जरिए अतिरिक्त पोषण मुहैया कराए।

ब्राजील के राष्ट्रपति लुला द्वारा अपने देशवासियों से नैतिक अपील करने से कई दशक पहले ही गांधीजी ने यह याद दिलाते हुए हमें एक मंत्र दिया था कि केवल वही लोक नीतियां उचित हैं, जिनसे देश के सर्वाधिक अभावग्रस्त और वंचित लोगों का जीवन संवर सके। आखिरकार यह कानून हमें उनकी मंत्रणा पर गौर करने का अवसर प्रदान करता है।

manderharsh@gmail.com

भोजन का अधिकार देने का संकल्प

मेधा
लेखिका स्वतंत्र पत्रकार हैं।

> मुख्य चिंता तो इस बात की है कि सारे प्रावधान, उपबंध और मुहावरेबाजी के बावजूद कहीं ऐसा न हो कि यह बिल हर जगह, हर समय और हरेक को आहार उपलब्ध करवाने के मामले में असफल साबित हो।

इन दिनों भोजन के अधिकार बिल पर काफी चर्चा चल रही है। अपनी निष्ठा जताते हुए सरकार ने उसको अमली जामा पहनाने की कोशिश शुरू कर दी है। ऐसे में नागरिक संगठनों के कार्यकर्ता और ग्रामीण समस्याओं के जानकार विशेषज्ञों को यह आशंका सता रही है कि पोषण की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लक्ष्य से जुड़ा यह महत्वाकांक्षी बिल अपने मूल लक्ष्य से भटक न जाए। मुख्य चिंता तो इस बात की है कि सारे प्रावधान, उपबंध और मुहावरेबाजी के बावजूद कहीं ऐसा न हो कि यह बिल हर जगह, हर समय और हरेक को आहार उपलब्ध करवाने के मामले में असफल साबित हो और कहीं किसी नागरिक को प्रावधानों के बावजूद भूखे पेट ना सोना पड़ जाए।

भोजन का अधिकार विधेयक से जुड़ी चिंताओं के कई छोर हैं। पहली और गहरी चिंता तो यही है कि निर्धनतम परिवारों को अन्नपूर्णा अंत्योदय योजना के अंतर्गत मुहैया कराए जा रहे अनाज (35 किलो प्रतिमाह प्रति परिवार, इसके अंतर्गत बीपीएल परिवारों को साढ़े चार रुपए प्रति किलो की दर से गेहूं और पांच रुपए पैंसठ पैसे प्रति किलो की दर से चावल दिया जाता है, जबकि अन्नपूर्णा अंत्योदय योजना के तहत राशनकार्डधारियों को क्रमशः दो और तीन रुपए की दर से यही अनाज दिया जाता है) की मात्रा घटाकर तीन रुपए प्रति किलो की दर से 25 किलोग्राम न कर दिया जाए। यह बात खास रूप से चिंता जगाने वाली होगी, क्योंकि ग्रामीण इलाकों में आमदनी घट रही है और देश का आधे से अधिक हिस्सा सूखे की चपेट में आ गया है।

नागरिक संगठन और ग्रामीण मामलों के जनपक्षी विशेषज्ञ यह भी महसूस करते हैं कि इस सिलसिले में जो वैधानिक अधिकार लोगों को हासिल हो चुके हैं, मसलन नरेगा के अंतर्गत, उनके दायरे को कम करने के बजाए बढ़ाया जाए और उसमें मां बनने वाली उम्र की स्त्रियों के पोषण तथा वृद्धावस्था पेंशन जैसे प्रावधानों को शामिल किया जाए।

योजनाओं से जुड़े वैधानिक अधिकार के पक्ष के अतिरिक्त ग्रामीण विकास के विशेषज्ञों को इन कार्यक्रमों की पारदर्शिता और जवाबदेही को लेकर भी शक हो रहा है। इसी वजह से माना जा रहा है कि प्रस्तावित विधेयक अगर अमल में आता है और जन भागीदारी या फिर सोशल ऑडिट का इसके भीतर विधान नहीं होता तो फिर भ्रष्टाचार की मैली गंगा ऐसा उफनेगी कि एकबारगी सारे कगार टूट जाएंगे।

एक तर्क यह भी है कि ग्रामीण लोगों की एक बड़ी तादाद एक समय में गरीबी रेखा से नीचे हो जाती है तो दूसरे समय में ऊपर और यह क्रम उनकी जिंदगी में बड़ी जल्दी-जल्दी आता है, जबकि बिल किसी व्यक्ति की आर्थिक दशा को कम से कम पूरे पांच साल के लिए वर्गीकृत कर देगा और इसके आधार पर उस व्यक्ति की भोजन के अधिकार विषयक पात्रता को तय करेगा। इस तरह के प्रावधान से लाभार्थी की पात्रता का सवाल हमेशा बना रहेगा।

इस बिल का एक सिरा पर्यावरण सुरक्षा से भी जाकर जुड़ता है। बिल में चावल के वितरण की बात कही गई है, जबकि विश्व विकास रिपोर्ट 2008, विकास के लिए कृषि में कहा गया है कि भारत का इस वक्त भूजल स्तर बहुत तेजी से नीचे जा रहा है, जिससे यहां की जलवायु प्रभावित हो रही है।

बिल के अंतर्गत चावल के वितरण की बात सरकार की दूरदर्शिता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करता है। जहां तक पौष्टिकता का सवाल है तो यह प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले कई अनाजों में ज्यादा पाया जाता है।

भोजन के अधिकार के सवाल पर सरकार फिलहाल लाचार

विधेयक लटका

- भविष्य के पचड़ों को देखते हुए संबंधित विधेयक को ही कुछ दिन के लिए लटकाया
- युक्तिसंगत उपायों को सुझाने के लिए प्रणव की अध्यक्षता में मंत्रीसमूह गठित

रोशन/एसएनबी

नई दिल्ली। भोजन के अधिकार को कानूनी जामा पहनाने की घोषणा कर केंद्र सरकार फंस गई है। सरकार अभी तक इसके दायरे में सिर्फ गेहूं व चावल का ही अनुमान कर चल रही थी लेकिन जब भोजन का जिक्र होता है तो खाद्य तेल, दाल, अंडा, मांस, चीनी, सब्जी और फल समेत फसलों की रक्षा में उपयोग होने वाला कीटनाशक भी उसमें आता है। जाहिर है कि इन सबको शामिल करने से अन्य बातों के अलावा व्ययभार भी बढ़ेगा। इस पचड़े के अनुमान से ही सरकार का दम फूलने लगा कि इतने आइटमों को कैसे भोजन में शामिल किया जाए। इसका युक्तिसंगत फैसला किए जाने तक के लिए सरकार ने भोजन के अधिकार संबंधी विधेयक को ही लटका देने में भलाई समझी है। अब यह विधेयक फिलहाल तो इस सत्र में पेश नहीं किया जा सकेगा।

उल्लेखनीय है कि कांग्रेस ने लोकसभा चुनाव के दौरान वादा किया था कि कमजोर वर्ग के लोगों को तीन रुपये प्रति किलो के हिसाब से 25 किलो गेहूं या चावल दिया जाएगा। दोबारा सरकार बनने के बाद यूपीए सरकार के 100 दिन के एजेंडा में फूड सिक्योरिटी बिल संसद में पेश करने का वादा भी किया गया था लेकिन जब इस बिल की विधिक पड़ताल की गई तो इसको थोड़ा लटकाने का फैसला हुआ है। बिल की पूरी छानबीन के लिए प्रधानमंत्री ने प्रणव मुखर्जी की अध्यक्षता में अब एक मंत्रीसमूह का गठन किया है। यह विभिन्न पचड़ों के प्रकाश में समस्याओं का अध्ययन कर उपयुक्त प्रावधानों को सम्मिलित किए जाने का सुझाव देगा। इसके बाद ही कानून को अमलीजामा पहनाने के कदम उठाए जाएंगे।

सूत्रों का कहना है कि भोजन के अधिकार के बाबत जब विधेयक का प्रारूप बनने की प्रक्रिया शुरू हुई तब योजना आयोग और विधि मंत्रालय ने सवाल उठाया कि एक बार कानून बन जाने के बाद कोई भी नागरिक अदालत का दरवाजा खटखटाकर भोजन (जिसमें सब कुछ शामिल है) की मांग कर सकता है, तब सरकार क्या करेगी? सरकार ने तो भोजन के अधिकार के दायरे में अभी सिर्फ चावल व गेहूं को ही माना है और वह उसी का इंतजाम कर रही है।

सूत्रों के अनुसार योजना आयोग ने जो लिस्ट तैयार की है जिसमें भोजन में खाद्य तेल, दाल, चीनी, फल, सब्जियां, दूध, अंडा व मांस भी आती है। फिर उसमें यह भी तय करना होगा कि किस फसल में कितना कीटनाशक उपयोग होना चाहिए। उसमें जीएम फूड को भी शामिल करना होगा। आधा-अधूरा कानून बने और फिर सरकार मुकदमेबाजी में फंसे, इससे पहले ही सरकार उन प्रश्नों का जवाब तलाश कर रही है जो बाद में उठाए जा सकते हैं, लिहाजा विधायक को पेश किया जाना फिलहाल टाल दिए जाने में ही भलाई समझी गई है।

नरेगा से कितनी भरेगी गरीबी की खाई

सरकार नरेगा की वाहवाही के पुल बांध रही है और अब नरेगा-2 शुरू करने पर विचार कर रही है, लेकिन हकीकत में वह सवालों के घेरे में है। समुचित संसाधन, उचित राशि के आवंटन, भ्रष्टाचार से बचाव, ईमानदारी और सामाजिक जागरूकता के अभाव ने इसकी सफलता को संदिग्ध बना दिया है। अभी भी हर साल रोटी-रोजी के जुगाड़ में तकरीबन पांच लाख रोग महानगरों की ओर रुख करते हैं।

» ज्ञानेंद्र रावत

कैसी विडंबना है कि आजादी के 62 साल होने को हैं, लेकिन गरीबी, भुखमरी, कुपोषण, निरक्षरता, लिंगभेद और सामाजिक विषमता दूर करने में हम नाकाम रहे हैं। जबकि विश्व में शक्तिशाली राष्ट्रों में देश की गिनती होती है। विश्व बैंक की मानें तो एशिया की तीसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में 1991 में यहां तेजी से शुरू आर्थिक सुधारों के बावजूद गरीबी बढ़ी है। देश में सरकारें हर साल बजट पेश कर नई योजनाएं प्रस्तुत करती रही हैं, लेकिन मूलभूत समस्याएं जस की तस हैं। इंसान की सबसे बड़ी आवश्यकता भूख है, उसके लिए जरूरत रोजगार और दो वक्त की रोटी के जुगाड़ की है। इसके अभाव में छत की बात सोचना बेमानी है। हमारे यहां भूखे पेट सोने वालों की एक अच्छी तादाद है। नासो की मानें तो भूख के शिकार सबसे ज्यादा खेत-मजदूर, जन-जातीय व अनुसूचित जाति के लोग होते हैं। कभी-कभी तो लोग भूख मिटाने हेतु पेड़ की छाल तक खाते हैं, कुछ अपने बच्चों को बेच देते हैं और कुछ बच्चों का पेट न भरने की हालत में खुदकुशी तक कर लेते हैं। असल में यहां दुनिया के सबसे ज्यादा गरीब रहते हैं, जिनमें से आज भी ज्यादातर दो जून रोटी के लिए मोहताज हैं। हमारे यहां भूखे पेट सोने वालों में तीन राज्य असम, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा शीर्ष पर हैं। असम में 3.6 फीसदी संख्या ऐसे ग्रामीण परिवारों की है, जिन्हें पूरे साल पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। उड़ीसा में अधिकतम 4.8 फीसदी और पश्चिम बंगाल में 10.6 फीसदी सर्वाधिक ऐसे परिवार हैं, जिन्हें साल के कुछ निश्चित महीनों में और 1.3 फीसदी परिवारों को पूरे साल पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। भले सरकार ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना की वाहवाही के पुल बांधे, लेकिन हकीकत में वह सवालों के घेरे में है। वह अपने मकसद में पूरी तरह खरी नहीं उतर पाई। समुचित संसाधन, उचित राशि का आबंटन, भ्रष्टाचार से बचाव, ईमानदारी और सामाजिक जागरूकता के अभाव ने इसकी

> विडंबना यह है कि गांव-देहात और आदिवासी अंचलों से चुनकर आए जनप्रतिनिधि भी गरीबों की सुध नहीं लेते और हर पल अपनी सुविधाओं तथा वेतन बढ़ाने की जुगत में ही रहते हैं।

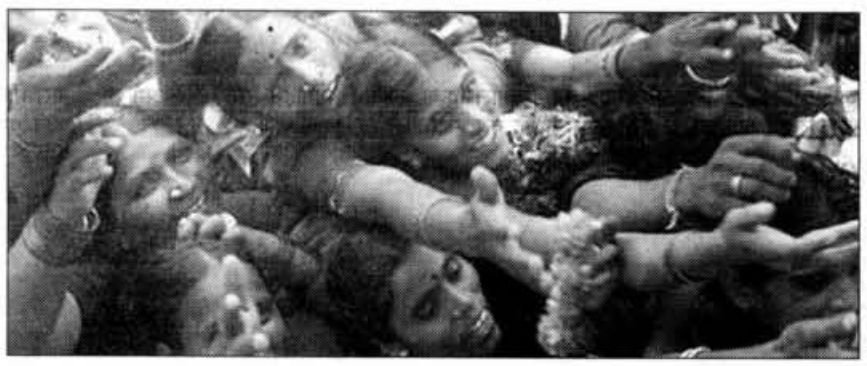

सफलता संदिग्ध बना दी। फिर तकरीबन 15 राज्यों की विभिन्न परियोजनाओं से उजड़े हजारों-लाखों विस्थापित लोगों, भूमिहीनों और आदिवासी ग्रामीणों द्वारा रोजी-रोटी की खातिर महानगरों की ओर जाने की समस्या ने विकराल रूप धारण किया, जबकि हर साल पेट की खातिर तकरीबन पांच लाख रोग महानगरों में जाते हैं। वर्ल्ड बैंक की रिपोर्ट पुष्टि करती है कि यह सिलसिला अब भी जारी है।

गरीबों को लें। यूएन ह्यूमन डबलपमेंट रिपोर्ट की मानें तो देश में 80 करोड़ गरीब हैं और पूरी दुनिया के स्तर पर दुनिया के कुल गरीबों में 33 फीसदी भारतीय हैं। यहां 82 करोड़ 80 लाख यानी आबादी का 75 फीसदी हिस्सा दो डॉलर रोजाना से भी कम पर जीता है। यही नहीं 45 करोड़ 80 लाख, यानी आबादी का 42 फीसदी अंतरराष्ट्रीय गरीबी रेखा यानी 1.25 डॉलर से भी कम पर मजबूरन गुजर-बसर करते हैं। दुनिया के सबसे गरीब देश, जिसे गरीबी रेखा मानते हैं, के मुताबिक भारत में दस में से चार भारतीय से भी ज्यादा गरीबी रेखा से नीचे आते हैं। नासो की मानें तो देश की ग्रामीण आबादी में 19 फीसदी लोग रोजाना 12 रुपए में गुजारा करते हैं। हमारे यहां एक ग्रामीण परिवार एक माह में महज 365 रुपए प्रति व्यक्ति खर्च कर गुजारा करता है, जबकि शहरी क्षेत्र की 22 फीसदी आबादी प्रति व्यक्ति 19 रुपए खर्च करती है। मसलन एक व्यक्ति महीने भर में 580 रुपए में अपना जीवन गुजारता है। शहरों में खाने पर लोग औसतन 451 रुपए खर्च करते हैं, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में महज 251-400 रुपए में गुजारा करते हैं। केंद्र सरकार ने बिजली भले प्राथमिकता सूची में रखी हो, लेकिन देश के ग्रामीण क्षेत्रों में 42 फीसदी घरों में आज भी बिजली उनके लिए सपना है। कहने को वहां 56 फीसदी घरों में बिजली उपलब्ध है। लेकिन जब शहरों में 12 से 14 घंटों बिजली न रहती हो, उस हालत में ग्रामीण इलाकों में बिजली की आशा बेमानी है। असल में बिजली तो नगरों-महानगरों में, राजधानियों में माननीयों-महामहिमों और उद्योगों से बचे, तब तो ग्रामीण शहरी इलाकों में पहुंचे। सच में गावों के 42 फीसदी लोग मिट्टी के तेल से रोशनी पाते हैं, वह भी ब्लैक में खरीदकर। जहां तक खाना बनाने का सवाल है, गांव के 74 फीसदी घरों में तिनके और लकड़ियों से खाना बनता है। भले वहां के नौ फीसदी घरों में रसोई गैस से खाना बनता हो, लेकिन असल में इतनी ही फीसदी लोग उपलों से खाना बनाते हैं। हालत तो यह है कि 17 बड़े राज्यों में से सात राज्यों में 19 फीसदी ग्रामीण कच्चे घरों में रह रहे हैं, वहीं 50 फीसदी लोगों के घर पक्के और 31 फीसदी के घर आधे पक्के थे। यह हमारे गांवों की हकीकत है।

विश्व विकास रिपोर्ट के अनुसार दुनिया में भौगोलिक हिसाब से सबसे ज्यादा बदतर हालात का सामना करने वाले इसी देश के लोग हैं। इसमें दो राय नहीं कि भारत घनी आबादी वाला दुनिया का सबसे पिछड़ा देश है और देश के 60 फीसदी गरीब लोग देश के प्रमुख राज्यों में रहते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि खुशहाली गांव में बैठे-बिठाए यानी एक जगह टिके रहने से नहीं आती। रिपोर्ट के मुताबिक रोजगार की खातिर शहरों-महानगरों की ओर जाने की प्रवृत्ति सकारात्मक है, स्वाभाविक है।

लोगों को निर्धनता से छुटकारा मिलना ही चाहिए। शहरीकरण के अलावा इसका कोई चारा नहीं है। लेकिन खेद है कि शहरी प्रशासन रोजगार की तलाश में आने वालों के प्रति नकारात्मक रवैया रखता है। यही नहीं, उनके बेहतर जीवनयापन के लिए सुविधाएं मुहैया करने के मामले पर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है। और तो और, वह उनके लिए आवास, स्कूल, सफाई, सड़क, सुरक्षा, बिजली, पानी और आवागमन आदि की व्यवस्था करने में भी आनाकानी और बिना वजह देरी करता है। नतीजतन लोग अपनी जरूरत और अधिकार पूरे करने की खातिर मजबूरन कानून अपने हाथ में ले लेते हैं। विडंबना यह है कि गांव-देहात से और आदिवासी अंचल से चुनकर आए जनप्रतिनिधि भी इनकी सुध नहीं लेते और हर पल अपनी सुविधाओं तथा वेतन बढ़ाने की जुगत में रहते हैं। इस साल के बजट को आजाद भारत का सबसे अच्छा बताया जा रहा है, देखना यह है कि यह इन लोगों का कहां तक भला कर पाएगा। यह तो भविष्य के गर्भ में है।

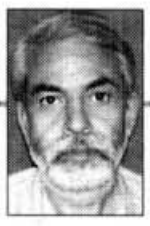

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।

भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ती रोजगार गारंटी योजना

विश्लेषण

रंजीत वर्मा

> नरेगा के माध्यम से गरीबी रेखा के ऊपर के गरीब होने का एक मौका जो अत्यधिक गरीबों के हाथ आया है, वह उन्हें हाथ से खिसकता दिख रहा है। इसके लिए कोई और नहीं बल्कि केन्द्र सरकार दोषी है, जिसने इसे लागू करने की सारी जवाबदेही राज्यों की मर्जी और पंचायतों की नीयत पर छोड़ दी। इस योजना में भ्रष्टाचार की कहानी हर ओर से छनकर आ रही है लेकिन केन्द्र सरकार के कान पर जूं तक नहीं रेंग रही है

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना यानी नरेगा के शुरुआती दौर में लोगों ने इससे जो उम्मीदें बांध रखी थी, उस पर आज की तारीख में लगभग पानी फिर चुका है और करोड़ों लोगों का अपनी अत्यधिक गरीबी से मुक्त होने का सपना फिलहाल सपना ही होकर रह गया है। इस योजना के माध्यम से गरीबी रेखा से ऊपर का गरीब होने का एक मौका जो उनके हाथ आया है, वह अब हाथ से निकलता दिख रहा है। इसके लिए कोई दूसरा नहीं, बल्कि खुद केंद्र सरकार दोषी है जिसने योजना तो बना ली लेकिन इसे लागू करने की सारी जवाबदेही राज्यों की मर्जी और पंचायतों की नीयत पर छोड़ दी। भ्रष्टाचार की कहानी हर ओर से छन कर आ रही है लेकिन केंद्र सरकार के कानों में जूं नहीं रेंग रही है।

चाहे राजस्थान हो या गुजरात या झारखंड या उत्तरप्रदेश या कि पश्चिम बंगाल- नरेगा में भ्रष्टाचार हर कहीं अपने शाश्वत रूप में मौजूद है। इस बात से भी कोई फर्क नहीं पड़ रहा कि वहां कांग्रेस की सरकार है या भाजपा की या वाममोर्चा की। अधिकांश मामलों में कहीं भी जॉब कार्ड नहीं बन रहा है और अगर कहीं बन भी रहा है तो कार्ड निश्चित नामधारी को सौंपा नहीं जा रहा है। उसे पंचायत ऑफिस में रख लिया जा रहा है और केवल देखने भर को कार्ड मिल रहा है। इसका मुख्य कारण यह बताया जा रहा है कि अगर कार्ड दिया जा रहा है जुलाई-अगस्त महीने में तो उस पर तारीख चढ़ी हुई है 29-30 अप्रैल की- जैसा गुजरात के पंचमहल में एक गैर-सरकारी जांच के दौरान पाया गया। वहां यह भी पाया गया कि न्यूनतम मजदूरी 60 रुपए की जगह सिर्फ 25 रुपए दी जा रही है। जहां तक न्यूनतम मजदूरी का सवाल है, तो यह भी कम चिंतनीय नहीं कि यह पूरे देश में एक समान नहीं है। नरेगा के तहत काम करने वाले लाभार्थी को वही मजदूरी दिये जाने का प्रावधान रखा गया है जो किसी भी राज्य-सरकार द्वारा खेत मजदूरों के लिए न्यूनतम तय की गयी होती है। विडंबना यह है कि इसमें आश्चर्यजनक रूप से असमानता है। गुजरात में जहां न्यूनतम मजदूरी 60 रुपए है वहीं उत्तर प्रदेश में 100 रुपए। चंडीगढ़ में पहले यह 129 रुपए थी, जिसे मार्च 2009 में बढ़ा कर 133 रुपए कर दिया गया। मतलब यह कि पूरे देश में न्यूनतम मजदूरी को लेकर एक मापदंड नहीं है और इस राष्ट्रीय योजना को लागू किये जाने में भी इसकी एकरूपता के महत्व को नहीं समझा जा रहा है। इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि जो सरकार कानून प्रदत्त विसंगति को दूर करने को लेकर इतनी अनिच्छुक है, वह भला गैर कानूनी काम रोकने में कितनी तत्परता दिखा सकती है। शायद इसकी वजह यह हो सकती है कि जब गरीब मजदूर को न्यूनतम मजदूरी देनी ही नहीं है तो इस बात को लेकर परेशान होने की भी क्या जरूरत है कि पूरे देश में यह एक क्यों नहीं है। मजे की बात यह कि जिस राज्य में जितनी न्यूनतम मजदूरी तय है नरेगा के तहत उतनी भी नहीं दी जा रही है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में 100 रुपए की जगह सिर्फ 42 रुपए दिये जा रहे हैं तो गुजरात के पंचमहल में सिर्फ 25 रुपए जबकि न्यूनतम मजदूरी साठ रुपए है और चंडीगढ़ में 133 की जगह 123 रुपए।

यह शिकायत तो आम है कि मस्टर रॉल अपडेट नहीं रखे जाते, साल में सिर्फ दो दिन काम कराया जाता है और जॉब कार्ड में 90 दिन चढ़ा देते हैं। कितनों को तो यह दो दिन का काम भी नसीब नहीं होता। उत्तर प्रदेश में इस वित्त वर्ष में लगभग एक करोड़ जॉब कार्ड बनाये गये लेकिन रोजगार मिला महज 15 लाख लोगों को और वह भी सौ दिन नहीं। पूरे प्रदेश में औसतन करीब 36 दिन काम दिया गया। जांच से यह बात सामने आ चुकी है कि उत्तर प्रदेश में 50 प्रतिशत राशि विकास पदाधिकारी ओर सरपंच मिलकर डकार जाते हैं। इसी तरह मध्य प्रदेश में करीब सवा करोड़ जॉब कार्ड बनाये गये और काम मिल सका सिर्फ 24 लाख ग्रामीणों को। पंजाब में साठ लाख लोगों को काम दिया जा सकता है लेकिन सिर्फ चार लाख लोग ही नरेगा के तहत लाभान्वित हो रहे हैं। नरेगा में चल रहे भ्रष्टाचार के ये उदाहरण मात्र हैं। सभी जगहों पर यही खेल सरेआम खेला जा रहा है।

लालगढ़ से 45 किलोमीटर दूर चकुलिया, जो झारखंड में पड़ता है में नरेगा में व्याप्त भ्रष्टाचार से निपटने के लिए माओवादी सामने आ चुके हैं। वही माओवादी, जिनके सफाये में केंद्र सरकार रात-दिन लगी हुई है, केंद्र सरकार की इस योजना को सफल और कारगर होते देखने के लिए वहां पोस्टर चिपकाये जा रहे हैं। पोस्टरों में लिखा है कि ठेकेदार, बिचौलिये और पुलिस को इस योजना से दूर रखा जाए साथ ही सरकार से यह सुनिश्चित करने को कहा गया है कि नरेगा के तहत जो न्यूनतम मजदूरी तय की गयी है वह पक्के तौर पर दी जाए ताकि घोटाले की आंच नरेगा पर न पड़े लेकिन अकेले पूर्वी सिंहभूम जिले में अब तक 20 लाख के घोटाले की खबर सामने आ चुकी है।

शायद यह सोचकर कि नरेगा योजना से उसे जो पाना था, वह उसने पिछले चुनाव में पा लिया, इसलिए अब इधर माथापच्ची करने की जरूरत क्या है, सरकार सब कुछ जानते-बूझते हुए भी निष्क्रिय है। राजस्थान में नरेगा के तहत जो कुछ हो रहा है, वह सभी राज्यों में चल रही अनियमितताओं से जरा भी पीछे नहीं। ऐसा पहली बार देखा गया कि किसी सरकारी योजना के क्रियान्वयन में खुद सरकारी नीति का उल्लंघन हो रहा हो। पिछले माह नेशनल कमीशन फॉर प्रोटेक्शन ऑफ चाइल्ड लेबर राजस्थान के डुंगरपुर जिले में सर्वेक्षण के लिए गया था। वहां उसने पाया कि नौ से सत्रह साल के लड़कों से नरेगा के तहत काम लिया जा रहा है। ये सभी लड़के स्कूल से या तो हटाये हुए हैं या खुद हटे हैं। नरेगा के पहले ये बाल मजदूर बीटी कॉटन के खेत में काम करने गुजरात चले जाया करते थे लेकिन अब नहीं जाते क्योंकि वहां मजदूरी कम मिलती थी और काम भी ज्यादा घंटे करना पड़ता था। नरेगा को वे एक अच्छे अवसर के रूप में देख रहे हैं और बालश्रम विरोधी नीति का उल्लंघन करते हुए विकास पदाधिकारी और सरपंच उन्हें काम में लगाये हुए हैं। सरकार को भी इस इसकी खबर है लेकिन वह इसके संबंध में क्या कदम उठाने जा रही है, यह अभी जानना बाकी है।

सर्वजन हिताय - सर्वजन सुखाय

श्रमिकों की शिकायतों के निस्तारण
एवं
योजना के क्रियान्वयन
सम्बन्धी सुझाव हेतु

नरेगा हेल्पलाइन सेवा

क्या

सुश्री मायावती
मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश

उ.प्र. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारन्टी योजना के अन्तर्गत आपकी निम्न शिकायते हैं?

- क्या आप योजना के अन्तर्गत काम करना चाहते हैं और आपका जॉबकार्ड नहीं बना है?
- क्या आपका जॉबकार्ड किसी अन्य व्यक्ति ने अपने पास रखा हुआ है?
- क्या योजना के अन्तर्गत आपको काम नहीं मिल रहा है?
- क्या आपने योजना के अन्तर्गत काम किया है और आपकी मजदूरी बकाया है?
- क्या आपके द्वारा जितने दिन काम किया गया है, उससे ज्यादा पैसा आपके नाम पर निकाल लिया गया है?
- क्या आपको ग्राम्य विकास विभाग की किसी भी योजना में भ्रष्टाचार सम्बन्धी शिकायत है?

आपकी हर समस्या का समाधान - नरेगा हेल्पलाइन से हुआ आसान

श्री दद्दू प्रसाद
मा. मंत्री ग्राम्य विकास

हेल्पलाइन नम्बर :-

0522-4055999, 05262-230784,
05262-230100, 05262-232600

हर श्रमिक का है अधिकार
मिलेगा सबको 100 दिन का रोजगार

(जी.पी. गौतम)
संयुक्त जिला कार्यक्रम समन्वयक/
परियोजना निदेशक
जिला ग्राम्य विकास अभिकरण
गोण्डा

(राम दास)
अतिरिक्त जिला कार्यक्रम समन्वयक
/मुख्य विकास अधिकारी
गोण्डा

(मुक्तेश मोहन मिश्र)
जिला मजिस्ट्रेट
/जिला कार्यक्रम समन्वयक
गोण्डा

दलित महिलाओं का शोषण कब तक

मुद्दा

अलका आर्य

दलित महिलाओं की स्थिति पर अक्सर मीडिया का ध्यान तब जाता है जब वे बलात्कार की शिकार होती हैं या उन्हें नग्न, अर्धनग्न करके सड़कों पर घुमाया जाता है। ऐसी शर्मनाक घटनाओं की रिपोर्टिंग के बाद उनका फॉलोअप बहुत ही कम किया जाता है। दरअसल आजादी के छह दशक बाद भी दलित महिलाओं को भेदभाव, हिंसा, सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ रहा है। गरीब, महिला व दलित- ये तीनों फैक्टर उसके शोषण में मुख्य भूमिका निभाते हैं। अपने देश में अंदाजन 20 करोड़ दलित हैं, उनमें 10 करोड़ दलित महिलाएं शामिल हैं। अच्छी खासी तादाद के बावजूद वे सामाजिक, आर्थिक, व राजनीतिक मोर्चे पर हाशिए में हैं। सवर्ण जातियों की पेशेवर महिलाएं ऊंचे अहोदों पर ही नहीं है बल्कि ऐसी जातियों में काम काजी महिलाओं की संख्या स्पष्ट तौर पर दिखाई देती है। लेकिन पढ़ी-लिखी काम-काजी दलित महिलाओं की संख्या निराशाजनक है और रोजगार बाजार से बाहर रहने का मतलब उनकी क्षमताओं, संभावनाओं का कत्ल करना है।

दरअसल दलित महिलाएं कुछ खास किस्म की हिंसा की शिकार होती हैं। ऊंची जाति के मर्द अक्सर दलित पुरुषों से बदला लेने के लिए उनके समुदाय की औरतों के साथ बलात्कार करते हैं, सरेआम नंगा करते हैं। उनके दांत व नाखून उखाड़ दिये जाते हैं। उन्हें डायन घोषित कर गांव से बेदखल करना आम बात है और कई मर्तबा डायन मानकर हत्या भी कर देते हैं। दक्षिण के मंदिरों में देवदासी प्रथा की शिकार भी दलित लड़कियां ही हैं। दलित महिलाओं के साथ किसी भी प्रकार के भेदभाव को रोकने के जिम्मेवारी राज्य की है। सनद रहे कि अपने देश ने कई ऐसी अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार संधियों पर हस्ताक्षर किए हुए हैं जो महिला व पुरुष दोनों की बराबरी की वकालत करते हैं।

अंतरराष्ट्रीय कानूनों में यह स्वीकार किया गया है कि सरकार का काम महज मानवाधिकार संरक्षण प्रदान करने वाले कानूनों को बनाना ही नहीं है बल्कि इसके परे ठोस पहल करना भी है। सरकार का काम ऐसी नीतियां बनाना व बजट में प्रावधान करना है ताकि महिलाएं अपने अधिकारों का इस्तेमाल बिना किसी खौफ से कर सकें। इसके इलावा जाति आधारित हिंसा व भेदभाव करने वालों को सख्त से सख्त सजा देना भी है। इंटरनेशनल कन्वेंशन ऑन सिविल एण्ड पॉलटिकल राइट्स के अनुसार भारत सरकार का दायित्व ऐसा माहौल बनाना है जिसमें दलित महिलाओं को यंत्रणा, गुलामी, क्रूरता से आजादी मिले, कानून, अदालत के सम्मुख उसकी पहचान एक मानव के नाते हो। वे निजता व जीने के अधिकार का इस्तेमाल कर सकें और उन्हें अपनी मर्जी से शादी करने का अधिकार भी है।

वस्तुतः एक दलित महिला की जिंदगी व सम्मान ऐसे मानवाधिकारों पर बहुत निर्भर करता है। लेकिन अपने लोकत्रांतिक देश में उनके इन मानवाधिकारों का बहुत ही व्यवस्थित तरीके से उल्लंघन देखने को मिलता है। बाल जन्म व विवाह पंजीकरण दलित लड़कियों को यौन उत्पीड़न, तस्करी, बाल मजदूरी, जबरन व छोटी उमर में शादी से संरक्षण प्रदान करता है लेकिन अपने देश में बाल जन्म व विवाह पंजीकरण की अनिर्वायता के महत्व को सिर्फ अदालतों ने ही समझा है। प्रशासन की लापरवाही व गैर संवदेनशीलता के कारण 46 प्रतिशत शिशुओं का जन्म पंजीकरण नहीं हो पाता और इसमें दलित लड़कियों की संख्या गौरतलब है। आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों की बात करें तो यहां भी दलित महिलाएं हाशिए पर ही खड़ी हैं। उनके हिस्से ज्यादातर ऐसे काम आते हैं जहां काम की स्थितियां अमानवीय होती है। उन्हें न ही सामाजिक संरक्षण प्रदान होता है और न ही पारिवारिक संरक्षण। स्कूली शिक्षा के चार्ट पर नजर डालें तो अनपढ़ दलित लड़कियों की संख्या चिंता का विषय है। दलित महिलाओं के बच्चों को न तो गुणात्मक शिक्षा मुहैया कराई जा रही है। न ही ऐसी शिक्षा जिसे हासिल कर वे सशक्त बन सकें। दलित महिलाओं की इस चिंतनीय स्थिति से जुड़े कारण भी बैचेन करने वाले हैं। यह एक हकीकत है कि दलित महिलाओं के साथ सिर्फ ऊंची जाति के लोग ही भेदभाव नहीं करते बल्कि अपने समुदाय के भीतर ही उन्हें कमजोर बनाए रखने की हर संभव कोशिश की जाती है।

दलित राजनीति में महिलाओं का वजूद सिर्फ संख्या तक ही सीमित है। उधर महिला आंदोलन में भी दहेज हत्या जैसी सामाजिक समस्याओं पर ज्यादा फोकस किया गया। इस महिला आंदोलन में दलित महिलाओं की आवाज, उनके विद्रोह ज्यादा नजर नहीं आते। इसके अलावा आम दलित महिलाओं को उनके पक्ष में बने कानूनों की जानकारी भी बहुत कम होती है। दलित महिलाओं को प्रताड़ित करने वाले मामलों में सिर्फ 1 फीसद अपराधियों को ही अदालत सजा सुनाती है। अदालतों में अपराधियों को सजा से मुक्त करना भी एक बहुत बड़ी समस्या है जो पीड़ित दलित महिलाओं को सालती है।

आज भी सिर पर मैला ढो रही हैं महिलाएं

सुनील शर्मा

उरई (जालौन), 28 अगस्त। मैला ढोने का परंपरागत कार्य वाल्मीकि समाज बिना झिझक करता था। लेकिन सरकार ने वाल्मीकि समाज के उत्थान के लिए स्वच्छकार विमुक्ति योजना चलाई। सरकारी अमले के सहयोग के अभाव में यह योजना परवान नहीं चढ़ पा रही। सरकार ने अब नए कानून में मैला ढोने वालों के खिलाफ पुलिस में रिपोर्ट दर्ज कराने तक का प्रावधान किया है। लेकिन सारे कायदे कानून ताक पर रख कई परिवार ऐसे हैं, जो मैला ढोने का काम कर रहे हैं। इसका जीता जागता उदाहरण है डकोर थाना क्षेत्र का अंबेडकर गांव मुहम्मदाबाद। यह एक ऐसा गांव है जहां वाल्मीकि समाज की महिलाएं आज भी सिर पर मैला ढोने की कुप्रथा से मुक्त नहीं हो पाई हैं।

ग्राम मुहम्मदाबाद में लगभग पांच हजार की आबादी है। इस गांव में तकरीबन 80 फीसद घरों में सोख्ता सुलभ शौचालय बनवा लिए हैं। लेकिन 20 फीसद घर आज भी ऐसे हैं जहां कच्चे पाखाना बनवा रखे हैं। अनुसूचित जाति की वाल्मीकि बिरादरी की चार महिलाएं मैला ढोने का काम कर रही हैं। इनमें मुहम्मदाबाद निवासी मुन्नी देवी, डकोर निवासी शांतिदेवी और शांति की मां कमला देवी जिन्होंने डकोर से यहां आकर मलिन बस्ती में अपनी झोंपड़ी बना ली। ग्राम कुसमिलियो निवासी भगवती है। पिछले कई सालों से लगातार ये महिलाएं अपना परंपरागत काम कर रही हैं। 2005 में स्थानीय निकायों व डूडा के मैला सफाई से जुड़े परिवारों का व्यापक सर्वे भारत सरकार के निर्देश पर कराया गया था। इसमें 428 स्वच्छकारों को चिन्हित किया गया था। चिन्हित परिवारों को दूसरे व्यवसाय के लिए 50 फीसद अनुदान पर पांच-पांच लाख रुपए का कर्ज उपलब्ध कराया जाना था लेकिन समाज कल्याण विभाग ने 2006 में मात्र दस परिवारों की ही मदद की। दूसरी ओर तमाम चिन्हित परिवारों के नाम कोई न कोई खामी निकालकर हटा दिए। 202 परिवारों को एक साथ यह कहकर अपात्र घोषित कर दिया गया कि ये लोग पहले लाभान्वित हो चुके हैं। जबकि निकाय कर्मचारियों ने सर्वे में यह पाया था कि उन्हें बहुत कम राशि प्रदान की गई थी जो कि किसी धंधे को चलाने के लिए अपर्याप्त थी। मजबूरन गुजारा करने के लिए अपना परंपरागत कार्य करने लगे। 2006-07 में 33 परिवारों को लाभान्वित किया गया और 2008-09 में 56 परिवारों को लाभान्वित किया गया। लेकिन हर बार चूक की गई थी।

मैला ढोने की कुप्रथा को जड़ से खत्म करने, विमुक्त बेरोजगार स्वच्छकारों के पुनर्वास, राजस्व ग्रामों में नियुक्त गैर वाल्मीकि सफाई कर्मियों के सफाई न करने आदि के विषय में उत्तर प्रदेश स्वच्छकार स्वाभिमान मंच के प्रदेश संयोजक भग्गूलाल वाल्मीकि ने राजेंद्र नगर में हुई बैठक के दौरान कहा कि हमारे देश में सरकारी आंकड़ों के हिसाब से 670009 लोग मैल ढोने का कार्य करते हैं। लेकिन हकीकत में इसकी तादाद 13 लाख से अधिक है। सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय के मुताबिक 2002-03 में उत्तर प्रदेश में मैला ढोने वालों की सर्वाधिक संख्या 149202, महाराष्ट्र में 64785, मध्य प्रदेश में 80072 था। जबकि वास्तविक संख्या वर्तमान में ही इससे अधिक है। जालौन में सामाजिक सर्वे के मुताबिक 700 से भी अधिक परिवार वर्तमान में भी इस घृणित कार्य में जुटे हैं। इसी तरह इस कार्य से विमुक्त एक लाख स्वच्छकार उचित पुनर्वास न हो पाने के कारण भुखमरी की कगार पर हैं। उन्होंने कहा कि सामाजिक समानता के नाम पर गैर वाल्मीकि जाति के लोगों को सफाई कर्मी के पद पर तैनात किया गया। उनमें 90 फीसद सफाई कर्मी अपने काम को तवज्जों न देकर घर बैठे मुफ्त में वेतन पा रहे हैं। स्वच्छकारों के प्रति सौतेला व्यवहार किया जा रहा है जो बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। मैला ढोने की प्रथा सिर्फ मुहम्मदाबाद तक ही नहीं खड़गुई, उसरगांव, कुसमिलिया आदि गांव भी शामिल हैं।

इस संबंध में मुख्य विकास अधिकारी एसपी अंजोर ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा कि जो लोग स्वच्छकारों से मैला ढुलवाने का कार्य करवा रहे हैं उनके खिलाफ कड़ी कार्रवाई होगी और ऐसे लोगों को चिन्हित कर पुनर्वासित करने की व्यवस्था की जाएगी।

सड़ांध के बीच जीने की विवशता

मुद्दा

ऋतु सारस्वत

पिछले कुछ वर्षों में जिस तरह शहरों का विस्तार हुआ है उसने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। अपनी कुछ खास विशेषताओं के बावजूद हर शहर में एक समानता है, और वह है गंदगी के ढेर। चाहे वह महानगर हो या छोटे शहर- जगह-जगह कूड़े के ढेर दिख जाते हैं। बरसात के मौसम में स्थिति और भी बदतर इसलिए हो जाती है क्योंकि पानी के बहाव के साथ यह कचरा नालों में फंस जाता है। सड़कों और सेप्टिक टैंकों में पानी का भराव न हो, इस बात को ध्यान में रखते हुए नगरीय प्रशासन द्वारा नालों की सफाई का काम समय-समय पर करवाया जाता रहता है। घुटनों तक गंदगी में डूबे पांव फावड़ों एवं कुदालों से मजदूर उस गंदगी और मल को बाहर निकालने में जुटे दिखाई देते हैं जिसकी कल्पना मात्र या दूर से ही देखते आम आदमी नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं।

सेप्टिक टैंकों और नालों का मल ही क्यों? देश में आज भी सैंकड़ों लोग सिर पर मैला ढोने के लिए अभिशप्त हैं। देश में कितने लोग इस अभिशप्त जीवन को जी रहे हैं इससे संबंधित आंकड़ों पर प्रश्नचिह्न लगा है क्योंकि कोई भी राज्य यह सहर्ष स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि उनके राज्य में मैला ढोने की प्रथा कायम है। सामाजिक न्याय और सशक्तिकरण मंत्रालय के आंकड़ों को यदि विश्वसनीय माना जाए तो वर्ष 2002-03 तक देश में मैला ढोने वालों की संख्या 6.76 लाख थी जबकि दूसरी ओर राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग सहित कई अन्य संगठन इनकी संख्या 12 से 15 लाख के मध्य बताते हैं ।

जनगणना 2001 की रिपोर्ट के अनुसार देश में 64 प्रतिशत परिवारों के पास शौचालय की सुविधा नहीं है। गांवों की स्थिति और भी खराब है। यहां 74 प्रतिशत लोग इस सुविधा से वंचित हैं। 2008-09 के मध्य कोई चमत्कारिक बदलाव हुआ हो ऐसी उम्मीद निरर्थक है ।

आर्थिक विकास की तमाम चमक के बीच, उन लोगों का दर्द कहीं बिसरा बैठा है जो सडांध के बीच जीवन जीने के लिए विवश हैं। शुष्क शौचालय बनाने पर रोक लगाने और मैला ढोने वालों को रोजगार देने वाला कानून यूं तो 1993 में पारित किया जा चुका है और तमाम राज्य दावा करते रहे हैं कि उनके यहां यह प्रथा समाप्त हो चुकी है लेकिन हकीकत में यह आज भी जारी है।

मोहम्मद सलीम की अध्यक्षता वाली शहरी विकास संबंधी संसद की स्थायी समिति ने नबम्बर 2007 को लोकसभा में पेश 25 वें प्रतिवेदन में स्पष्ट किया था कि मैला ढोने की अमानवीय प्रथा समाप्त करने के उद्देश्य से प्रारंभ की गई योजना की जिम्मेदारी एक मंत्रालय से दूसरे मंत्रालय को सौंपे जाने से लाभ के स्थान पर हानि अधिक हुई है। रिपोर्ट के अनुसार इसके कारण किसी विशेष मंत्रालय के लिए कोई जबावदेही सुनिश्चित करने का अवसर न मिलने से करोड़ों रुपए खर्च किये जाने के बाद भी वास्तविक स्थिति में परिवर्तन नहीं हआ है।

केन्द्र सरकार ने अब मैला ढोने वालों और उनके परिजनों के पुनर्वास के लिए नई केन्द्रीय योजना प्रारंभ करने का जो प्रस्ताव रखा है उसमें सफाई कर्मचारियों के लिए निश्चित ब्याज दर निर्धारित की जाएगी और इसी दर पर उनको बैंकों से कर्ज मिलेगा। राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी वित्त एवं विकास निगम या अन्य उच्च स्तरीय विभाग अपनी एजेंसियों के जरिये ब्याज सब्सिडी देंगे। सफाई कर्मचारियों की समस्याओं के प्रति असंवेदनशीलता इस तथ्य से जाहिर होती है कि 10वीं पंचवर्षीय योजना में मैला ढोने की प्रथा खत्म करने एवं इसमें लगे लोगों को रोजगार देने व शुष्क शौचालयों को बदलने के लिए 460 करोड़ रुपए आवंटित किए गये लेकिन खर्च मात्र 146.04 करोड़ रुपए ही हुए। समय-समय पर सरकारी महकमों से यह बात उठती रही है कि इस सामंती व्यवस्था को मिटाने के लिए सरकार हर संभव प्रयास करेगी। कुछ समय पूर्व अनुसूचित जाति के सशक्तिकरण के लिए बने कार्यदल में सफाई कर्मचारियों पर सम समूह का गठन हुआ। इस कार्यदल ने अपनी रिपोर्ट योजना आयोग को सौंप दी है जिसमें मांग की गई है कि मैला ढोने वालों की कानूनी परिभाषा में संशोधन कर सिर्फ शुष्क शौचालयों से ही नहीं बल्कि किसी भी रूप में और कहीं से भी पूर्ण या आंशिक रूप से मैला ढोने वालों (सीवर, सेप्टिक, टैंक, नालियों आदि) को उसमें शामिल किया जाए और यही उचित भी है क्योंकि सफाई कर्मचारियों को भी उसी स्वच्छ पर्यावरण में जीने का अधिकार है जिसमें आम जन जीता है। जहां तक सीवर, सेप्टिक टैंक और नालियों की सफाई का प्रश्न है, उसके लिए अधिकाधिक मशीनी उपकरण प्रयोग में लाने की जरूरत है। देश का हर नागरिक इस अमानवीय प्रथा के विरूद्ध आवाज उठाये, अन्यथा पूंजी की चमक के नीचे मैला ढोते हुए मजदूर इस अभिशप्त जीवन से कभी मुक्त नहीं हो पाएंगे।

कैसे हो गृहिणियों के काम का मूल्यांकन

विवेचन

अंजलि सिन्हा

औरत की सार्वजनिक दायरे में अधिक से अधिक उपस्थिति पूरे समाज के वातावरण को बदलेगी तथा उसकी स्थिति भी इससे बदलेगी। अंततः सार्वजनिक और निजी दोनों दायरों में न्याय और बराबरी के मुद्दे को एजेंडा पर लेना पड़ेगा और समाधान निकालना होगा

घर के अन्दर स्त्री द्वारा सम्पन्न किए जानेवाले काम का मसला अर्थशास्त्रियों से लेकर नारीवादी आन्दोलन के बीच लम्बे समय से चर्चा में रहा है। पितृसत्तात्मक मूल्यों-मान्यताओं से प्रभावित हमारे समाज में घर के इस काम को काम समझा भी नहीं जाता रहा है और यह धारणा बलवती रही है कि महिलाएं कुछ काम नहीं करती हैं या वे कमाती नहीं हैं। यह इस बात में भी परिलक्षित होता है कि परम्परागत रूप से हमारे यहां घरेलू श्रम आय में नहीं आंका जाता है इसीलिए वह सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में भी नहीं जोड़ा जाता है।

पिछले दिनों आये अदालती फैसले इस मसले पर नयी रोशनी डालते दिखते हैं और वे समाज में व्याप्त इस मिथक को तोड़ते हैं कि महिलाएं 'कुछ काम नहीं करती है।' ये दोनों फैसले दो अलग अलग सड़क हादसों में दो घरेलू महिलाओं की मौत तथा मुआवजे से सम्बधित थे।

दिल्ली तीस हजारी कोर्ट ने एक अहम फैसले में सड़क हादसे में एक गृहिणी की मौत पर बतौर मुआवजा 7.33 लाख रूपए उसके परिजनों को देने का निर्देश दिया। इस गृहिणी की आय अदालत ने प्रति माह छह हजार रुपए आंकी। कोर्ट ने इस फैसले का आधार सुप्रीम कोर्ट के एक फैसले को बनाया। 'लता बधवा बनाम स्टेट ऑफ बिहार' केस 1989 का है जिसमें दुर्घटना में एक गृहिणी की मौत हो गयी। सुप्रीम कोर्ट ने इस महिला की आय उस समय 3,000 रुपए प्रतिमाह आंकी थी। बढ़ती महंगाई तथा बदलती जीवनशैली के अनुरूप तीस हजारी कोर्ट ने यह राशि बढ़ाकर 6,000 रुपए कर दी। उम्र की सीमा सुप्रीम कोर्ट ने 34 से 59 साल तय की थी। पोस्टमार्टम रिपोर्ट के मुताबिक सन्तोष रानी की उम्र 50 वर्ष बतायी गयी। अतः ट्रक की इन्शोरेन्स कम्पनी को नौ साल की उसकी आय तथा साथ में कुछ हर्जाना मिलाकर देने का निर्देश दिया गया।

चेन्नई उच्च अदालत ने इसी किस्म के एक मुकदमे में अपना निर्णय सुनाया जिसमें एक दुर्घटना में पति-पत्नी दोनों मारे गए थे। पति नौकरीपेशा था इसलिए उसका मुआवजा उसके वेतन के आधार पर आसानी से तय हो सकता था, लेकिन पत्नी, जो घर का कामकाज देखती थी, उसके काम का मूल्य तय किया जाना था।

उक्त दुर्घटना के संदर्भ में जजों ने इसका तार्किक आधार बनाया। न्यायमूर्ति प्रभा श्रीदेवन तथा न्यायमूर्ति टी एस शिवाग्नानम ने सुनवाई के दौरान कहा कि घरेलू काम का मूल्य वैज्ञानिक आधार पर तय किया जाना चाहिए। बेंच ने महिला का वेतन प्रतिमाह 3,500 आंका और इस आधार पर 7.6 लाख रुपए मुआवजा उसकी बेटी को देने का निर्देश दिया। उन्होंने कहा कि घरेलू महिला को भी कमानेवाले सदस्य के रूप में गिना जाना चाहिए। उसके काम के कारण ही पति को बाहर जाकर काम करने का समय और ऊर्जा मिल पाती है। इतना ही नहीं, जजों ने यह भी बताया कि किस आधार पर गृहकार्यों का आकलन किया जाना चाहिए। उन्होंने मोटे तौर पर तीन बातें रखीं : 'यदि वह घर में नहीं होती और बाहर कमाती होती तो कितना कमाती', 'अगर शादी के बाद पति-पत्नी को बराबर का आर्थिक पार्टनर माना जाए तो पति के वेतन का आधा हिस्सा उसका है', 'वह घर में जितना काम करती थी, उसके लिए किसी को पैसा देकर करवाया जाए तो कुल काम के लिए कितना पैसा देना पड़ेगा?'

यूं तो दुनिया भर के कई अर्थशास्त्रियों और समाज शास्त्रियों ने भी अनुमान लगाया है तथा पूंजीपति वर्ग ने भी दावा किया है कि वह अपने मजदूरों का वेतन इस बात को ध्यान में रख कर देता है कि जिससे उसका परिवार पल जाए, क्योंकि मजदूर अपने परिवार से ऊर्जा ग्रहण करता है तभी वह मालिक के यहां काम पर जा पाता है। इसी अवधारणा के तहत एक समय ट्रेड यूनियनों ने पारिवारिक वेतन (फैमिली वेज) की भी मांग की थी।

महिलाओं की समस्या के खिलाफ चले आन्दोलनों और संघर्षों में केन्द्रीय मुद्दा सामाजिक और शारीरिक उत्पीड़न का रहा है। उस समय वही एजेंडा पर था क्योंकि वही प्रत्यक्ष और क्रूर दिखता था। उन सभी उत्पीड़नों से तो मुक्ति चाहिए ही लेकिन बराबरी के लिए आर्थिक आधार का बराबर होना भी जरूरी है। तो क्या घर के काम के बदले वेतन मांगा जाए? यह समाधान नहीं हो सकता क्योंकि वह कौन देगा? यदि घर की आय में से ही उसे भी पारिश्रामिक मिल जाए तो घर की स्थिति में क्या फर्क पड़ जाएगा? सरकार, पूंजीपति या मालिक औरत को घर में वेतन देने नहीं आएगा। हालांकि घरेलू श्रम का अप्रत्यक्ष लाभ उसे मिलता है।

दूसरी बात, अप्रत्यक्ष श्रम का मुआवजा लेना दूरगामी तौर पर औरत के हक में नहीं होगा क्योंकि प्रत्यक्ष उत्पादन कार्यों का वह हिस्सेदार नहीं बन पाएंगी। बराबरी के लिए जरूरी है कि वह प्रत्यक्ष कामगार की श्रेणी में आए। इसका अर्थ यह नहीं कि घर का काम कम महत्व का है बल्कि इस अति महत्वपूर्ण काम को घर के सभी सदस्य मिल जुल कर सम्पन्न करेंगे। यह समझना जरूरी है कि निजी दायरा और सार्वजनिक दायरा दोनों का अलग-अलग महत्व और उपयोगिता है। उत्पादन के स्रोत चाहें वे कृषि या अन्य कोई भी हों,- उनसे सीधे जुड़ाव और अप्रत्यक्ष जुड़ाव में फर्क होता है तथा प्रत्यक्ष पारिश्रामिक और पुरस्कार में भी फर्क है। बराबर काम के बिना बराबर हक नहीं मिलता और बराबर हक के बिना समाज में बराबर की हैसियत नहीं बनती है।

ये फैसले मुद्दों को समझने के लिए ठीक हैं किन्तु सिर्फ इसे मान लेने भर से जमीनी स्थिति में बदलाव नहीं आएगा क्योंकि उसके घरेलू काम के आकलन का मौका तो मरने के बाद ही मिलेगा। औरत की सार्वजनिक दायरे में अधिक से अधिक उपस्थिति पूरे समाज के वातावरण को बदलेगी तथा उनकी स्थिति भी इससे बदलेगी। अन्ततः सार्वजनिक और निजी दोनों दायरों में न्याय और बराबरी के मुद्दे को एजेंडा पर लेना पड़ेगा और समाधान निकालना पड़ेगा।

(लेखिका 'स्त्री अधिकार संगठन' से सम्बद्ध और दिल्ली विश्वविद्यालय में काउंसलर हैं)

मुद्दा | मल्लिका साराभाई

सिर्फ औरत ही क्यों है सौभाग्यवती?

वे तमाम स्त्रियां, जिनके पति निकम्मे, लोफर और शराबी हैं और पत्नी को पीटते हैं, वे जिंदा हैं, क्या सिर्फ इतने भर से उनकी पत्नी सौभाग्यवती हो जाती है? क्या हर रोज मार खाने की वजह से ही वह सौभाग्यवती है?

मैं एचके कॉलेज ऑफ आर्ट्स की एक विद्यार्थी के साथ नारीवाद पर एक जोशीले सेमिनार से बाहर निकली तो किसी ने विनोदिनी नीलकंठ की किताब 'द रोड लेस ट्रैवेल्ड' से कुछ मजेदार हिस्से पढ़कर सुनाए। 70 वर्ष पहले एक गुजराती अखबार में प्रकाशित एक लेख में विनोदिनी ने यही सवाल पूछा, जो मैं अपने श्रोताओं व पाठकों से पूछती हूं। शादी के बाद सुशीला जब अपने मायके गई तो उसके पास उसके पति की चिट्ठी आई। चिट्ठी में पति ने उसे 'अखंड सौभाग्यवती प्रिय सुशीला...' कहकर संबोधित किया था। यह संबोधन सुनकर सुशीला सोचने लगी। उसे अखंड सौभाग्यवती कहकर पति ने अपने लिए लंबे जीवन की कामना की थी। एक हिंदू पत्नी तभी सौभाग्यवती मानी जाती है, जब उसका पति जिंदा रहता है। अगर पति से पहले उसकी मृत्यु हो जाती है तो वह अखंड सौभाग्यवती होती है।

सुशीला ने अपने पति की ओर से कई तर्क गढ़ने की कोशिश की, लेकिन शक का एक कीड़ा उसके दिमाग में बैठ गया। 'क्या जब मेरी शादी नहीं हुई थी तो मैं सौभाग्यवती नहीं थी? पिता मुझे इतना प्यार करते थे, मां मेरे प्रेम में डूबी हुई थीं और इन सबसे बढ़कर मैंने बीए तक पढ़ाई की। परीक्षा में कभी फेल नहीं हुई, स्कूल में इनाम जीते। मैं सोचती हूं कि शादी के पहले मैं निश्चित ही सौभाग्यवती थी।' विनोदिनी की सुशीला फिर उन तमाम स्त्रियों के बारे में सोचती है, जिनके

दहेज भी क्या एक तरह का धंधा और सौदा नहीं है। हम किसी को इसलिए पैसे देते हैं, क्योंकि वह हमारा बोझ हल्का कर रहा है।

हम उसे पैसे ही पैसे देते हैं, जैसे किसी दुकानदार को देते हैं। दोनों ही बातें एक किस्म का व्यापार हैं।

पति निकम्मे, लोफर, शराबी और पत्नी को पीटते हैं। वे सिर्फ जिंदा हैं, इससे उनकी पत्नी सौभाग्यवती हो जाती है? क्या हर रोज मार खाने की वजह से वह सौभाग्यवती हैं? बंगलुरू में दहेज की सताई 25 औरतों के बारे में आयोजित एक सेमिनार 'डॉटर्स ऑफ फायर' के दौरान मुझे भी ऐसा ही महसूस हुआ। औरतें मर चुकी थीं, जबकि उनके पति अभी भी जिंदा थे। क्या वे मरी हुई औरतें सौभाग्यवती थीं? हर दिन चारों ओर मारी, सताई और प्रताड़ित की जाने वाली औरतें क्या सौभाग्यवती हैं? क्या वे आदमी ज्यादा सौभाग्यवान नहीं हैं? फिर हम उनके नाम के आगे सौभाग्यवान क्यों नहीं जोड़ते हैं? दहेज भी क्या एक तरह का धंधा और सौदा नहीं है। हम किसी को इसलिए पैसे देते हैं, क्योंकि वह हमारा बोझ हल्का कर रहा है। अपना बोझ ले जाने के लिए हम उसे पैसे देते हैं। जैसे किसी दुकानदार को देते हैं। दोनों ही एक किस्म का व्यापार है। गौरी व्रत भी ऐसा ही एक मर्दों की सुविधा के लिए बनाया गया व्रत है, जो शिव जैसा अच्छा पति पाने के लिए रखा जाता है। इसमें बताया गया है कि स्त्री का एकमात्र मोक्ष अच्छा पति पाना है।

हम अपने मित्रों, पड़ोसियों और लोगों पर नजर डालें तो पाएंगे कि कितनी शादियां त्रासदीपूर्ण नहीं तो कम से कम दुखद तो हैं। एक अच्छा जीवन साथी पाना यदि इतना ही महत्वपूर्ण था और यह तरीका इतना ही विश्वसनीय तो पुरुष भी इसे जरूर कर रहे होते। लेकिन नहीं, पुरुष अच्छा होने के लिए हमेशा पत्नियों को पीट सकते हैं। है न?

लेखिका जानी-मानी नृत्यांगना और समाजसेविका हैं।

दुनिया मेरे आगे

शील की कीमत

मीतू माथुर

कुछ दिन पहले खबर आई थी कि अध्यापक की अश्लील हरकत और उस मामले को रफा-दफा करने की पंचायत की कोशिश से परेशान एक किशोरी ने आत्महत्या कर ली। आए दिन अखबारों और टीवी चैनलों पर यौन-अपराधों से जुड़ी खबरें छाई रहती हैं। हर बार ऐसे मामले सवाल छोड़ जाते हैं कि हमारे समाज का यह कैसा दोहरा चरित्र है, जो यौन शोषण के हालात पैदा करता है। पुरुष को बच निकलने की गुंजाइश देता है और पीड़ित स्त्री को सिर उठा कर जीने का हक तक नहीं देता।

इस पूरे मामले में सबसे ज्यादा परेशान करने वाली बात यह है कि यहां लड़की के साथ अश्लील हरकत की गई थी, उसका बलात्कार नहीं हुआ था, फिर भी उसने आत्महत्या कर ली। बेशक, छेड़छाड़ या अश्लील हरकत को जुर्म के पैमाने पर बलात्कार से कम नहीं आंका जा सकता, पर आखिर हमने यौन अपराधों को इतना बड़ा क्यों मान लिया है कि उनके आगे महिलाओं का वजूद ही बौना हो गया, उनकी जान की कीमत शून्य हो गई। एक सवाल जो सारे शोर में कहीं खो गया वह यह कि किशोरी ने आत्महत्या अध्यापक से मिली शारीरिक प्रताड़ना के चलते की या समाज की खा जाने वाली नजरें और मामले को दबाने की कोशिशें इसकी वजह बने। घटना के कई दिन बाद किशोरी का ऐसा कदम उठाना यही संकेत देता है कि दूसरी वजह ज्यादा बड़ी रही होगी। पर-पुरुष का स्पर्श भी स्त्री के लिए पाप है, जैसी न जाने कितनी सीखों का पुलिंदा उसके मन में गहरे दबा होगा, जिसने उसे इतना बड़ा कदम उठाने को मजबूर किया।

बेशक, यौन शोषण एक गंभीर अपराध है, पर इसलिए नहीं कि यह स्त्री के शील से जुड़ा है, बल्कि इसलिए कि यह एक स्वतंत्र अस्तित्व वाले जीते-जागते प्राणी की दैहिक स्वतंत्रता का खुला उल्लंघन है। जिस मामले का जिक्र हो रहा है, उसमें ऐसा नहीं था कि किशोरी के माता-पिता ने उसका साथ न दिया हो, फिर भी उसने मौत को गले लगा लिया! शायद इसलिए कि हमारे तथाकथित सभ्य समाज में यौन-अपराधों को लेकर जैसी हाय-तौबा मचती है, वैसी शायद कहीं नहीं। ऐसे भी आदिवासी समाज हैं, जहां बलात्कार के मामले हमारे तथाकथित सभ्य समाजों की तुलना में बहत कम होते हैं। अगर वहां कोई लड़की ऐसी वारदात का शिकार हो भी जाए तो आत्महत्या करने को मजबूर नहीं होती। लेकिन हमारे सभ्य कहे जाने वाले समाज में शायद ही कोई लड़की होगी जो यौन हिंसा का शिकार होने पर मर जाना पसंद नहीं करेगी। इस तरह यह मसला केवल स्वतंत्रता का नहीं, किसी स्त्री के जीने के बुनियादी अधिकार से भी जुड़ा है।

जब तक हम न केवल ऐसी घटनाओं को रोकने, बल्कि उनके होने के लिए भी खुद को तैयार नहीं कर लेते, तब तक ऐसे ही मासूम जानें जाती रहेंगी। समझ नहीं आता कि आखिर दुर्घटना हो जाने के बाद ही हम अपनी बेटियों के आंसू क्यों पोंछते हैं? क्यों उन्हें शुरू से जिस्मानी और जेहनी तौर पर इतना मजबूत नहीं बनाते कि ऐसी नौबत आने पर जम कर प्रतिरोध कर सकें। कम से कम अन्याय का शिकार होने पर आत्मग्लानि तो न पालें। लेकिन उस समाज से ऐसी उम्मीद कैसे की जा सकती है, जहां किसी लड़की के सम्मान की कसौटी ही उसका कौमार्य हो, जहां अदालतों में रस ले-लेकर उसके साथ हुए दैहिक शोषण का मामला परोसा जाता हो और ऐसे मामलों की सुनवाई में सबसे ज्यादा भीड़ जुटती हो।

इस प्रसंग से कुछ दिन पहले तक टीवी पर आने वाले एक विज्ञापन का खयाल हो आया, जहां गर्भनिरोधक का विज्ञापन आते ही अपने बच्चों के साथ टीवी देख रहे माता-पिता असहज हो उठते हैं और बच्चों को किसी काम के बहाने कमरे से बाहर भेज देते हैं। जब हम अपने बच्चों के साथ बैठ कर ऐसे विज्ञापन तक देखने की हिम्मत नहीं जुटा सकते तो भला उनसे इस विषय पर चर्चा कैसे कर सकेंगे? कैसे अपनी बेटियों के मन में यह बात बिठा पाएंगे कि वे सिर्फ हाड़-मांस का पुतला न होकर तन-मन के जोड़ से बना एक व्यक्तित्व हैं? कैसे अपने बेटों के मन में नारी शरीर के लिए सम्मान जगा पाएंगे? अगर हम यों ही चुप्पी साधे रहे तो विकल्प क्या है? शायद कुछ नहीं! तब शायद हमें उस जोखिम के साथ ही जीना होगा जब या तो किसी बेटी के यौन हिंसा के शिकार होकर फांसी लगाने की खबर कानों में पड़ेगी या फिर किसी बेटे के ऐसे कुकृत्य के बाद हमारा सिर खुद-ब-खुद शर्म से झुक जाएगा।

जागोरी JAGORI

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें -

जागोरी बी-114 शिवालीक मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017, फ़ोनः 26691219, 26691220

email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org

www.jagori.org